आधुनिक-विभागः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(भारतशासन-मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनः
राष्ट्रियमूल्याङ्कन-प्रत्यायनपरिषदा 'ए'-श्रेण्यां प्रत्यायितः समविश्वविद्यालयः)

श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः, देवप्रयागः

पौडी-गढवालः-249301 (उत्तराखण्डः)

दूरभाषः 01378-266028

ई मेल : srkcampus@gmail.com

वेबसाईट : www.srkcampus.org

आधुनिक शोध त्रिवेणी (आधुनिक विभागीय शोध-पत्रिका)

आधुनिक शोध त्रिवेणी

(आधुनिक विभागीय शोध-पत्रिका)

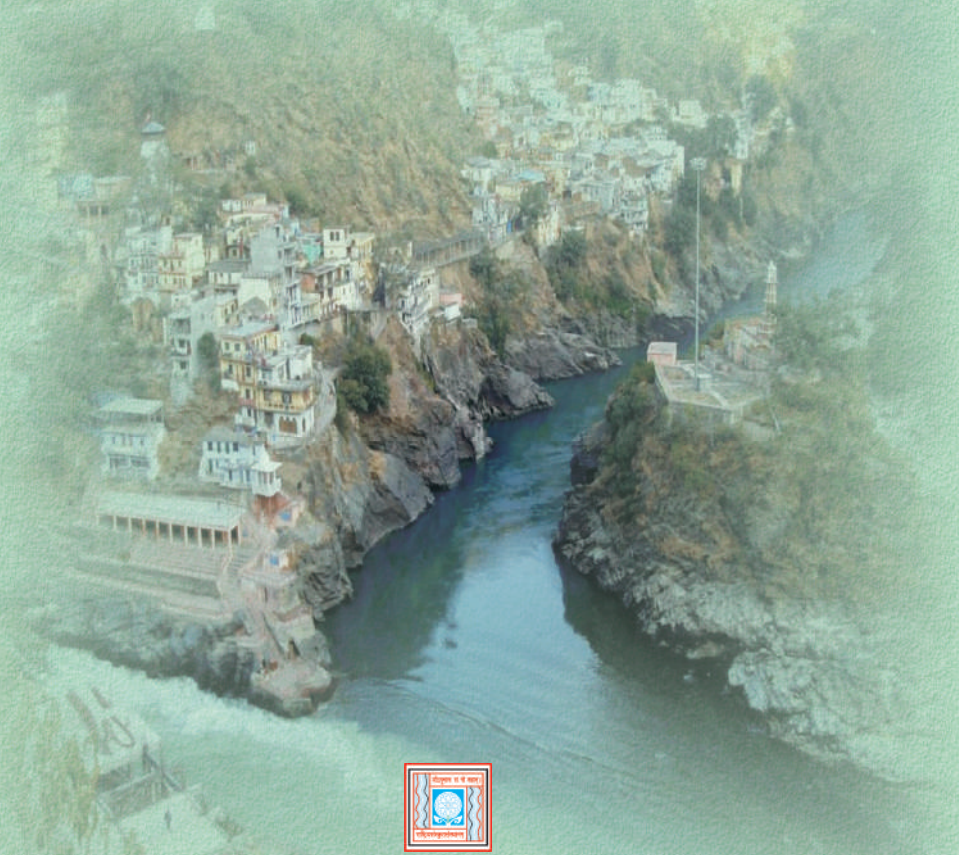

आधुनिक-विभागः

राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(भारतशासन-मानवसंसाधनविकासमन्त्रालयाधीनः
राष्ट्रियमूल्याङ्कन-प्रत्यायनपरिषदा 'ए'-श्रेण्यां प्रत्यायितः समविश्वविद्यालयः)

श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसरः, देवप्रयागः

आधुनिक शोध त्रिवेणी

(आधुनिक विभागीय शोध-पत्रिका)

प्रधान सम्पादक

प्रो. के.बी. सुब्बरायुडु

प्राचार्य

सम्पादक मण्डल

डॉ. अरविन्द सिंह गौर

डॉ. वीरेन्द्र सिंह बर्त्वाल

डॉ. निपुण चौधरी

श्री पंकज कोटियाल

श्री संदीप सिंह रावत

आधुनिक विभाग

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

(मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीन,

राष्ट्रिय मूल्याङ्कन प्रत्यायन परिषद् द्वारा 'ए'-श्रेणी में प्रत्यायित समविश्वविद्यालय)

श्री रघुनाथकीर्तिपरिसर, देवप्रयाग

2017

प्रकाशक
प्राचार्य
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
(समविश्वविद्यालय)
श्री रघुनाथकीर्तिपरिसर, देवप्रयाग, पौडी-गढवाल-249301 (उत्तराखण्ड)
दूरभाष 01378-266028
ई मेल : srkcampus@gmail.com
वेबसाईट : www.srkcampus.org

© आधुनिक विभाग, श्री रघुनाथकीर्तिपरिसर, देवप्रयाग

प्रकाशन 2017

प्रथम संस्करण : 200 प्रतियां

ISBN : 978-81-87324-13-9

सह-वितरक
एपेक्स बुक्स पब्लिशर्स एवं डिस्ट्रीब्यूटर्स
5/21-ए, विजय नगर, दिल्ली-110009
दूरभाष : 07503180700

मुद्रक
डी.वी. प्रिंटर्स
97-यू.बी., जवाहर नगर, दिल्ली-110007
मो.: 9818279798, 9990279798

ॐ

आधुनिक शोध त्रिवेणी

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग (उत्तराखंड) का आधुनिक विभाग वर्ष, 2016-17 की अपनी शोध पत्रिका प्रकाशित कर रहा है, जिसका नाम है-"आधुनिक शोध त्रिवेणी"। देवभूमि में स्थित पांच प्रयागों में देवप्रयाग प्रमुख और प्रथम प्रयाग है। यह श्री भागीरथी जी, श्री अलकनंदा जी और अंतर्वाहिनी श्री सरस्वती जी का त्रिवेणी संगम है। ऐसा ही त्रिवेणी रूपी संगम आधुनिक विभाग के हिंदी, अंग्रेजी और इतिहास विषयों का प्रधान रूप से इस पत्रिका में है।

इस पत्रिका में आधुनिक विषयों के विभिन्न शोध आलेखों का संग्रह है। जिस प्रकार अलकनंदा नदी के साथ मंदाकिनी और पिंडर आदि नदियां समाहित हो जाती हैं, उसी प्रकार आधुनिक विभाग के इस संगम में संगणक (कंप्यूटर) शास्त्र और शारीरिक शिक्षा की सरिताएं भी समाहित हो रही हैं। अर्थात् इस पत्रिका के अस्तित्व में इन विषयों के लेखों ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

शैशवास्था में ही तरुण और स्वस्थ दिखाई दे रहे हमारे आधुनिक विभाग के विद्वज्जन इस परिसर की प्रौढ़ता प्रदर्शित कर रहे हैं। अत: महान संतोष प्राप्त हो रहा है। आशा है कि विभाग भविष्य में भी इसी प्रकार उन्नति और प्रगति के पथ पर उत्तरोत्तर बढ़ता रहेगा। इसके लिए मैं विभाग के इन परिश्रमी और एकाग्रचित्त अध्यापकों को सामर्थ्य प्रदान करने हेतु मां भगवती भागीरथी तथा श्री रघुनाथ जी से कामना करता हूँ।

ॐ तत्सत् ॐ

-प्रो. के.बी. सुब्बरायुडु

प्राचार्य

संपादकीय

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग के आधुनिक विभाग की शोध पत्रिका 'आधुनिक शोध त्रिवेणी' आप तक पहुँचाकर हम गौरवान्वित हैं। हिंदी, इतिहास, अंग्रेजी, कंप्यूटर, शारीरिक शिक्षा आदि विषयों से संबंधित सामग्री से युक्त इस पत्रिका में विभिन्न विद्वानों और शोधार्थियों ने आलेख भेज हमें अनुगृहीत किया है। इस पहले प्रयास में हमें काफी कुछ सीखने को मिला है।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान का श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग अभी शैशवास्था में है, किंतु 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की तर्ज पर इस परिसर का उज्ज्वल भविष्य अभी से दिखाई देने लगा है। 23 से 31 जनवरी तक यहां आयोजित विभिन्न विभागों की राष्ट्रिय संगोष्ठियों के सफल आयोजन से हमें न केवल ऐसे आयोजनों के लिए असीम आत्मबल मिला, अपितु देशभर के विद्वानों से ज्ञान और प्रेरणा भी मिली। अकेले आधुनिक विभाग में ही 50 से अधिक शोध पत्रों का वाचन हुआ।

शोध के प्रति विद्वानों और अनुसंधित्सुओं के गहन अनुराग को देखते हुए इच्छा जाग्रत हुई कि ऐसे लोगों के ज्ञान को लिपिबद्ध करने का अपने स्तर से एक प्रयास किया जाए। संस्थान से विभागीय पत्रिका के प्रकाशन की हरी झंडी मिलने पर हमारी यह महत्वाकांक्षा पूरी हो गई। इसके लिए हम कुलपति महोदय प्रो. पी. एन. शास्त्री तथा प्राचार्य प्रो. के.बी. सुब्बरायडु जी के आभारी हैं। परिसर के अनेक वरिष्ठ प्राध्यापकों तथा कार्मिकों ने भी हमारे इस यज्ञ में आहुतियां दीं, उनके प्रति धन्यवाद ज्ञापन करना हम अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के आधुनिक विभाग के अंतर्गत हिंदी, इतिहास, अंग्रेजी, कंप्यूटर, शारीरिक शिक्षा आदि विषय आते हैं। ये सभी आपस में एक परिवार या समाज के सदस्यों की तरह पारस्परिक निर्भर और संबद्ध हैं। इतिहास के बिना हिंदी और अंग्रेजी के बिना कंप्यूटर की कल्पना नहीं की जा सकती। इन सभी का ज्ञान एक प्रभावशाली व्यक्तित्व का निर्माण करता है। उसमें संस्कृत भी समाहित हो तो 'सोने पे सुहागा' होना स्वाभाविक है, क्योंकि संस्कृत इन सभी की जननी है अथवा स्रोत है। प्रस्तुत पत्रिका में इन विषयों के आपसी संबंध उनके महत्त्व को

रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। हिंदी, अंग्रेजी के साहित्यिक स्वरूप को स्पर्श करने के साथ ही इतिहास के कुछ पहलुओं को उजागर करने का प्रयास किया गया है। वर्तमान समय में हमारे जीवन के अहम हिस्सा बने कंप्यूटर के नुकसान और उनसे बचने के तरीकों की भी एक झलक दिखलाई गई है।

कोई भी शोध पत्रिका ज्ञान का एक ठोस दस्तावेज होती है, परंतु यह भी सत्य है कि वह ज्ञान अंतिम नहीं होता है। नित नए आविष्कार और अनुसंधान पुराने ज्ञान को संशोधित करने के आधार बनते हैं। 'आधुनिक शोध त्रिवेणी' को भी उक्त सिद्धांत के आधार पर एक लघु ज्ञान कोश बनाने का प्रयास किया गया है। भविष्य में इसे और भी सशक्त तथा प्रभावी बनाने के प्रयास किए जाएंगे। इसके लिए आपके सुझाव और मार्गदर्शन हमारे लिए शिरोधार्य होंगे।

-संपादक मंडल

विषयानुक्रमणिका

पुरोवाक् - प्रो. के.बी. सुब्बरायुडु, प्राचार्य			*iii*
सम्पादकीयम्			*v*
1.	संस्कृतभाषा का आधुनिक स्वरूप	–प्रो. बनमाली बिश्वाल	1
2.	दिव्यावदानस्य हिन्द्यनुवादे अर्थगता: समस्या:	–डा. प्रफुल्लगड़पाल:	9
3.	इतिहासकार के रूप में कल्हण	–डॉ. अरविन्द सिंह गौर	21
4.	गढ़वाली लोकसाहित्य में नाथ पंथ का योगदान	–डॉ. वीरेंद्र सिंह बर्त्वाल	25
5.	ग्रीन कंप्यूटिंग : पर्यावरण के संदर्भ में	–पंकज कोटियाल	31
6.	पुराण एवं अन्य ग्रन्थों में इतिहास	–डॉ. शैलेन्द्रनारायण कोटियाल	38
7.	भारतीय ज्योतिष शास्त्र में वर्णित भौगोलिक स्थिति	–डॉ. सुरेश शर्मा	41
8.	संस्कृत और हिन्दी में 'नेता' सम्बन्धी अवधारणा	–डॉ. कुसुम लता	46
9.	गढ़वाली लोक साहित्य पर वेदों का प्रभाव	–डॉ. शैलेन्द्र प्रसाद उनियाल	51
10.	भारतीय इतिहास के समृद्धि में धर्मेतर साहित्य का योगदान	–डॉ. राम नारायण ठाकुर	55
11.	हिन्दी भाषा और तत्सम् शब्दावली	–दिगपाल सिंह	65
12.	विद्यासागर नौटियाल के साहित्य में हिन्दी व संस्कृत का अंत-सम्बन्ध	–सविता मैठाणी	68
13.	संस्कृत और हिन्दी में अन्तर्सम्बन्ध	–राजेश सिंह	71
14.	फोटो पत्रकारिता का मीडिया से सम्बन्ध	–डॉ. राजेश्वरी चौधरी	79
15.	कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री विमर्श	–डॉ. रजनी रौथाण	84
16.	संस्कृत भाषा साहित्य और पर्यावरण का सम्बन्ध	-डॉ. पूनम शर्मा	88
17.	संस्कृत का हिन्दी के साथ अंत: सम्बन्ध	–डॉ. प्रियंका घिल्डियाल	90

18.	निराला के काव्यों में संस्कृत और हिन्दी भाषा का अन्तर्सम्बन्ध –प्रियंका भट्ट		94
19.	हिन्दी और संस्कृत में अंत: संबंध	–डॉ. शशि बाला रावत	99
20.	छायावादी काव्य में हिन्दी और संस्कृत का अन्त: सम्बन्ध –गौरीश नन्दनी काला		102
21.	इतिहास ग्रन्थ के रूप में ऋग्वेद	–शशिकान्त	106
22.	गढ़वाली लोकसाहित्य एवं राजनीति	–डॉ. सरिता कैंतुरा	112
23.	प्राचीन भारतीय इतिहास का संस्कृत के साथ अन्त: सम्बन्ध –विनोद पण्डित		117
24.	रघुवीर शरण मित्र के साहित्य में नारी चेतना के विविध आयाम –डॉ. सुनीता राणा		127
25.	प्रसाद के नाटक : एक विहंगम दृष्टि	–डॉ. अनीता देवी	134
26.	ब्राह्मण संस्कृत साहित्य में निहित ऐतिहासिक तत्त्व	–डॉ. अजय परमार	138
27.	आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में नैतिक मूल्यों के संरक्षण की आवश्यकता –डॉ. गार्गी नैनवाल		146
28.	प्रकृति के परमोपासक "पंत" जी	-डॉ. संजय कुमार मिश्र	149
29.	नरेश मेहता के काव्य में रस सिद्धान्त का अनुशीलन –डॉ. शशि बाला रावत		152
30.	संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में नाट्य-कला	–डॉ. सावित्री रावत	156
31.	Changing Indian Psychology on Language Learning with Special Reference to English and Sanskrit –Dr. Nipun Chaudhary		162
32.	Comparison of Selected Psychological and Anthropometric Characteristics Between Successful and Unsuccessful Volleyball Players	–Sandeep Singh Rawat	167
33.	Importance of Bharat Muni's Rasa Theory in the study of English Literature	–Dr. Tanu R. Bali	177
34.	Linguistic Study of Sanskrit and English	–Dr. Ashok Joshi	182

✦✦✦

संस्कृतभाषा का आधुनिक स्वरूप

(संगणकीय भाषाविज्ञान के विशेष सन्दर्भ में)

–प्रो. बनमाली बिश्वाल

प्रस्तावना -

"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्या महर्षिभिः" जैसी तमाम सूक्तियां में **संस्कृत को** देव–भाषा या सुरभाषा आदि नाम से अभिहित किया गया है। इससे संस्कृत का श्रेष्ठत्व सिद्ध होता है न कि अप्रयुक्तत्व या व्यवहार–अयोग्यत्व। यह भाषा मृत नहीं हो सकती, क्योंकि यह भाषा प्राकृतिकी भाषा है। प्राकृतिकी भाषा कभी मरती नहीं किन्तु कृत्रिम भाषा मर सकती है। प्रो. सम्पूर्णानन्द ने ठीक ही कहा है–" Sanskrit is not merely alive but it is also a medicine to make deads alive ". यह ऐसी जीवन्ती भाषा है जो मृतों को जीवन देती है। जीवित भाषा में व्यवहार होता है, साहित्य भी लिखा जाता है। अतः परिवर्तन अवश्यम्भावी है।

"भाष्यते इति भाषा"। भाषा वह है जो बोली जाती है। भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त सार्थक–शब्दों की समष्टि ही भाषा है – ऐसा भाषावैज्ञानिक मानते हैं। अनुभव–ग्रहण और गृहीत अनुभवों का प्रकटन का माध्यम भाषा ही होती है। भाषाशास्त्र के नियमानुसार लोकव्यवहार–प्रयोजन के बिना सम्प्रेषण–माध्यमरूप प्रयोजन के बिना जगत् में किसी भी भाषा की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

संस्कृत–शब्द का प्रयोग -

भारतीय–वाङ्मय का अनुशीलन से ज्ञात होता है कि संस्कृत–शब्द का प्रयोग संस्कृत–भाषा के अर्थ में सर्वप्रथम वाल्मीकि–रामायण मे दिखता है, जब हनुमान कहते हैं– "वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्"। (रामायण, सुन्दरकाण्ड, 30.1) तथा "यदि वाचं वदिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्" (रामायण, सुन्दरकाण्ड, 30.18)। इन उक्तियों से सिद्ध होता है कि तब मनुष्यों की भाषा संस्कृत थी। यास्क, पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि प्रभृतियों के समय में भाषा के अर्थ में संस्कृत–शब्द का प्रयोग रहा है। तब प्रायः संस्कृत के लिए भाषा शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी में सात सूत्रों में संस्कृत के लिए भाषा–शब्द का प्रयोग देखा जा सकता है। वे सात सूत्र इस प्रकार हैं – भाषायां सद वस श्रुवः पा. 3.2.108, सख्यशिश्विति भाषायाम् पा. 4.1.62, मयङश्चैतयो–र्भाषयामभ्यासाच्छादनयोः पा. 4.3.143, विभाषा भाषायाम् पा. 6.1.181, स्वे च भाषायाम् पा.

6.3.20, प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् पा. 7.2.88 तथा भाषायाम् पा. 8.3.93। इससे ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायी केवल भाषा का विवेचन प्रस्तुत नहीं करती अपितु संस्कृत का विवेचन प्रस्तुत करता।

भाषा और व्याकरण का अन्तःसम्बन्ध -

व्याकरण भाषाप्रयोग का एक वेगमानक (स्पीडोमीटर) है। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा के लिए व्याकरण की आवश्यकता होती है न कि व्याकरण के लिए भाषा का। व्याकरण-ज्ञान के विना भी भाषा का प्रयोग सम्भव है। कोई बच्चा या अनपढ़ जो व्याकरण नहीं जानता, वह भाषा का प्रयोग करता ही है। महाभाष्य में भी कहा गया है कि अष्टाध्यायी अर्थात् व्याकरण-ज्ञान के बिना लोग संस्कृत में सम्भाषण करते थे-"यदि तर्हि शब्देषु प्रमाणं किमष्टाध्याय्या क्रियते" - यह उक्ति वहाँ प्रसिद्ध है।

संस्कृत-भाषा की लोकप्रियता -

मण्डनमिश्र के समय में तोते भी संस्कृत बोलते थे। इससे संस्कृत-भाषा की लोकप्रियता सूचित होती है। शङ्कराचार्य ने जब किसी ग्रामीण को मण्डनमिश्र के घर का पता पूछा तब उसने उत्तर दिया-

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गनाः यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थ-नीडान्तरसन्निरुद्धं जानीहि तन्मण्डनमिश्रगृहम्॥

भोज के समय में तन्तुवाय भी संस्कृत में श्लोक रचना करने में निपुण थे ऐसा तथ्य मिलता है-

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि।
यत्नाम् करोमि.... ....कवयामि वयामि यामि।

विल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरितम् में प्रमाण मिलता है कि स्त्रियां भी तब मातृभाषा जैसे संस्कृत बोलती थी।

यत्र स्त्रीणामपि किमपरं मातृभाषावदेव।
प्रत्यावासं विलसति वाचः संस्कृतं प्राकृतं च।

संस्कृत-भाषा का स्वरूप -

प्रकृति-प्रत्यय-विभाग से संस्कारयुक्त भाषा संस्कृत-भाषा। "संस्करोति शुद्धिं प्रापयति भावान् या सा संस्कृत-भाषा। वाक्य-विश्लेषक-रूपेण तत्र तत्र तत्त्वानां समीक्षणेन संस्कारगता या भाषा सा संस्कृत-भाषा"। संस्कृत में भारत की आत्मा प्रतिविम्बित है। यह भाषा भारतीय-संस्कृति की भाषा है। संस्कृत भारतीय-दर्शन की भाषा है। भारतीय साहित्य की भाषा है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान की भाषा है।

राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत -

भारत में एक भी भाषा ऐसी नहीं है जो समग्र राष्ट्र में बोली जाती है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में अन्यून पांच सौ भाषा और उपभाषा प्रयुक्त होती हैं। सर्वजनभाषित-भाषा के अभाव में परस्पर संवाद में असुविधा होती है। इससे कभी अर्थनैतिक समस्या, कभी राजनैतिक समस्या, कभी धार्मिकी समस्या, कभी भाषावैज्ञानिक समस्या या फिर अन्य समस्या भी होती है। क्षेत्र-विशेष में प्रयुक्त प्रान्तीय भाषा राष्ट्रभाषा नहीं हो सकती। केवल संस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जो भारत की राष्ट्रभाषा होने की सर्वथा योग्यता रखती है। यदि हम भारत में संस्कृत को उचित स्थान देंगे तो यह राष्ट्रभाषा हो सकती है। तब जाकर समग्र विश्व हमारा सम्मान करेगा।

संस्कृत-भाषा का महत्त्व -

संस्कृत-भाषा के महत्त्व के विषय में भारत के प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद कहते हैं - "Our whole culture, literature and life will remain incomplete so long as our scholars, our thinkers, our leaders and our educationists remain ignorant of Sanskrit".

वस्तुतः संस्कृत केवल भाषा ही नहीं अपितु उसमें भारत का निवास है। अरविन्द के अनुसार - "Sanskrit is the key to the heart and intimate sense of our culture through which we can establish a vivid continuity between the still living power of our past and the uncreated power of our future".

संस्कृत-भाषा में साम्प्रदायिकता नहीं है - यह भाषा किसी प्रदेश, धर्म या जाति की भाषा नहीं है।

संस्कृत-भाषा पर क्लिष्टत्व का आरोप -

संस्कृत-भाषा क्लिष्ट भाषा है ऐसा आक्षेप प्रायः होता है। परन्तु इस प्रसङ्ग में यह बोला जा सकता है कि वही भाषा क्लिष्ट कहलायेगी जिनके अवबोधन में क्लेश हो। भारतीयों के लिए संस्कृत क्लिष्ट नहीं हो सकता। भारतीय भाषाओं में प्रायः संस्कृत के तत्सम शब्द तद्भव शब्द प्रयुक्त होते हैं। केवल आर्य-भाषाओं में ही नहीं किन्तु द्रविड-भाषाओं में भी संस्कृत शब्दों का आधिक्य है। सात भागों में निर्मित एवं प्रकाशित तामिल बृहत्कोश में 40,000 संस्कृत शब्द हैं। वी. राघवन् महाशय कहते हैं - "It is possible to speak sentences made up wholly of Sanskrit words and be understood in Tamil".

संस्कृत का आधुनिक स्वरूप -

चिरपुरातनी भी यह भाषा नित्य-नूतन है। ऋग्वेद के उषःसूक्त का अधोलिखित मन्त्र इस भाषा के प्रसङ्ग में सुसङ्गत बैठता है - "पुराणी देवी युवती पुरन्ध्री" इति। इस के पुरातन

स्वरूप के विषय में कुछ वक्तव्य नहीं है। परन्तु इसके नित्यनूतनत्व-प्रसङ्ग में कुछ अवश्य बोलना है। संस्कृत-भाषा के सामग्रिक स्वरूप का अनुशीलन करें तो देख सकते हैं कि वैदिक काल से प्रयुक्त इस भाषा में प्रभूत अभिनव साहित्य रचा जा रहा है। इस प्रकार संस्कृत-भाषा एवं वाङ्मय का पाञ्च या छः विभाग कल्पित किये जा सकते हैं - प्रागवैदिक, वैदिक, वेदोत्तर, पौराणिक, शास्त्रीय तथा आधुनिक आदि।

वर्ष 1866 से आज तक अनेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुयी। काशीविद्यासुधानिधिः (या पण्डित-पत्रिका) संस्कृत की प्रथम नियमित पत्रिका रही है। तत्पश्चात् आज तक सम्भाषणसन्देशः, दुर्वा, सागरिका, दृक्, कथासरित्, पद्यबन्धा, अजस्रा, संस्कृतमञ्जरी, संस्कृतप्रतिभा, गाण्डीवम्, सुधर्मा आदि अनेक दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक तथा वार्षिक पत्रिकाएं आज प्रकाशित हो रही हैं और संस्कृत भाषा की समृद्धि का परिचय दे रही हैं।

संस्कृत एवं विज्ञान -

सम्पूर्ण संस्कृत-वाङ्मय में यत्र तत्र विविध वैज्ञानिक-तत्त्व उपलब्ध होते हैं। आज ऐसे अनेक वैज्ञानिक उद्भावन दृष्टिपथ में आते हैं जिनका अस्तित्त्व वैदिकवाङ्मय में उपलब्ध रहा। अमरकोश में ज्ञान-विज्ञान की परिभाषा इस प्रकार मिलता है - "मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्प-शास्त्रयोः" इस परिभाषा के अनुसार मोक्षविषयिणी विद्या ही ज्ञान है। शिल्पशास्त्र-सम्बन्धी विद्या ही विज्ञान के नाम से जाना जाता है। आज कुछ लोग संस्कृत को केवल धार्मिक-विधिविधानोपयोगी मानते हैं जो ठीक नहीं। संस्कृत तो सर्वविध ज्ञान एवं विज्ञान से समृद्ध है। हमारे प्राचीन विद्वानों (ऋषि, मनीषि, आचार्यों) को गणित-ज्योतिष-चिकित्सा-भौतिक-रसायन-वनस्पति-जीव-भूगर्भ-यन्त्र-प्रभृति-विज्ञानों के विषय में उन्नत ज्ञान था। आधुनिक वैज्ञानिकों ने विज्ञान की जिन शाखाओं का खोज किया वे इस प्रकार हैं - भौतिकीविज्ञान (Physics), रसायनविज्ञान (Chemistry), प्राणिविज्ञान (Zoology), वनस्पतिविज्ञान (Botany), भूगर्भविज्ञान (Geology), खगोल-विज्ञान (Astronomy), अन्तरिक्षविज्ञान (Aeronautics or space science) तथा संगणकविज्ञान (Computer Science) आदि। वस्तुतः प्रायः वे सभी शाखाएं प्राचीन भारतीय महामनीषिओं के द्वारा पोषित हैं। आदिकाल से ही विज्ञान की इन शाखाओं का विकास हो रहा है। उसी विकास का ही परिणाम है कि आजः वैज्ञानिक विज्ञानसम्बद्ध इतना ज्ञानराशि प्राप्त करने में समर्थ हुये। इस आलेख में विशेष कर संगणकविज्ञान पर ही विचार प्रस्तुत है।

संगणक और संस्कृत -

संगणक और संस्कृत यह प्रसङ्ग आज अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज से 2600 वर्ष पूर्व पाणिनि ने ऐसा कुछ चमत्कार किया जिससे वे आज super computer कहलाते हैं। महर्षि पाणिनि का समय ईसा पूर्व 4-6 शताब्दी मानी जाती है। उनका जन्म शलातूर

(लाहोर) में, जो तत्कालीन भारत और वर्तमान पाकिस्तान में है। पाणिनि का वैयक्तिक परिचय निर्विवाद नहीं है। महाभाष्य के अनुसार पाणिनि शलातुरीय (उससे उनका देश), दाक्षीपुत्र (उससे उनकी माता का नाम दाक्षी), पणिनपुत्र (उससे उनके पिता का नाम पाणिन) ऐसा स्वीकृत है। इनके सम्बन्धिओं में व्याडि (मातुल एवं गुरु) तथा पिङ्गल (कनिष्ठ भ्राता) प्रसिद्ध हैं।

संस्कृत यन्त्र-अनुवाद और संगणक -

भारत के सूचना प्रौद्योगिकी मन्त्रालय द्वारा प्रतिष्ठित अक्षरभारती ग्रूप, आई.आई. टी., कानपुर एवं यूनिवर्सिटी ऑफ हैदराबाद द्वारा अनुसारक नाम से एक संस्कृत साफ्टवेयर बनाया गया है जो संस्कृत समेत अन्य भारतीय भाषाओं को दूसरी भाषा में यान्त्रिक अनुवाद कर सकती है। उदाहरण के लिए तेलूगु-हिन्दी अनुसारक के जरिये यदि तेलूगु भाषा की किसी टेक्स्ट को हिन्दी में अनुवाद किया जाये तो उसे पाठक अवश्य समझ सकते हैं।

अष्टाध्यायी और संगणकविज्ञान - पाणिनि की अष्टाध्यायी प्रायः 4000 (3965) सूत्र (जिसमें उन्होंने 43 प्रत्याहारों का प्रयोग किया) के माध्यम से संस्कृतभाषा को ऐसी वैज्ञानिकता दी है जिससे विद्वानों का मानना है कि अष्टाध्यायी संगणकविज्ञान-संरचना से अत्यधिक साम्य रखती है।

आज पाणिनि का यह व्याकरण computer programming के लिए natural language सिद्ध हुआ। अष्टाध्यायी के इन सूत्रों को यथावत् अथवा पुनर्गठित कर इस लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। इस दिशा में विद्वान् अभी तत्पर हैं।

यद्यपि पाणिनीय-व्याकरण के वैज्ञानिकतारूप तथ्य से हम पूर्वापरिचित हैं तथापि संगणक के लिए इसकी natural language होने की क्षमता के विषय में हम उस समय जान पायें जब संगणक के लिए उपयुक्ततम भाषा होने का तथ्य समक्ष आया। इस तथ्य की पृष्ठभूमि में पाणिनीय व्याकरण ही रहा है ऐसा निःसन्देह कहा जा सकता है।

अब यह जिज्ञासा होती है कि कब यह तथ्य सामने आया। वस्तुतः 7 मई 1985 को भारत के सभी प्रसिद्ध समाचार-पत्रों में एक महत्त्वपूर्ण समाचार प्रकाशित हुआ कि भारतीय विद्या भवन, मुम्बई में प्राच्य विद्याविद् Prof. Kane की स्मृति में आयोजित Hindu धर्मशास्त्र नामक व्याख्यानमाला में अपने विशिष्ट उद्घाटन-भाषण में विधिज्ञ Nani Plliwala ने कहा - "Though it sounds surprising still it is true that the super scientists of USA have arrived at a conclusion during a conference that Sanskrit is an ideal language for computer programming. They have drawn this conclusion after testing many languages like English, French, German etc. and they found that Sanskrit is highly logical and free from all sorts of ambiguity. Hence they felt that it can suit best for the computer".

इस वार्ता को पढकर ही सभी संस्कृतज्ञ संस्कृत-प्रेमी गर्वित एवं प्रेरित हुये। संस्कृत

को लेकर कुछ लोगों के मन में हीन मन्यता थी, वह भी दूर हुई। इसी वर्ष NASA, california से Prof. Rick Briggs ने एक लेख लिया "Knowledge Representation in Sanskrit and Artificaial Intelligence" जो पुणे से "The Artificial Intelligence" इस पत्रिका में प्रकाशित है।

Rick Briggs ने इस लेख में यह प्रमाणित किया कि संस्कृत-व्याकरण की शाब्द-बोधप्रक्रिया computer programming के साथ अपूर्व सामञ्जस्य रखती है। इस प्रकार व्याकरण की शाब्दबोधप्रक्रिया कंप्यूटर के लिए natural language बन सकती है।

पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिकता -

पाणिनीय-व्याकरण की ऐसी वैज्ञानिकता है कि पाणिनि सूचना-प्रौद्योगिकी के आदिपुरुष माने जाते हैं। उन्होंने तदानीन्तन व्यावहारिक संस्कृतभाषा के विश्लेषण के लिए भाषाशास्त्र का अनेक मूलतत्त्व आविष्कृत किये जो अन्यभाषा-विश्लेषण के लिए समर्थ हैं।

अत: आधुनिक-भाषा वैज्ञानिकों ने, विशेषत: नोम चमस्की प्रभृति ने स्व-सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण हेतु पाणिनि का उपयोग किया। आज संस्कृत-संगणक-भाषाविज्ञान नाम से भाषाशास्त्र का नवीनावतार हम देख सकते हैं। इसमें चम्स्कि बहिर्भूत है।

महर्षि पाणिनि संस्कृत-संगणक-भाषाविज्ञान के आद्य-प्रवर्तक रूप में सम्मानित है। उसमें उनकी अष्टाध्यायी एक उपकरण है जो वस्तुत: प्रकृति (धातु-प्रातिपदिक)-प्रत्यय-योजन से एक पदनिष्पादक यन्त्र है। यह यान्त्रिक उपकरण असंख्य शुद्ध संस्कृत पदरूपों का निष्पादन करती है। यहाँ शुद्ध्यशुद्धि-परिष्करण के लिए उपायान्तर की अपेक्षा नहीं है।

कुछ पदों की प्रकृति नहीं मिलती वे अव्युत्पन्न कहलाते हैं। किसी प्रकार कल्पित प्रत्यविशेष के आश्रय से उन्हें व्युत्पादित किया जा सकता है। जैसे - उणादयो अव्युत्पन्नानि। अत एव वैयाकरण कहते हैं - "लक्षणैकचक्षुष्का वयमिति"।

पाणिनीय-प्रक्रिया अर्थाश्रित नहीं है। स्वयं पाणिनि ने कहा है - अर्थस्यान्य-प्रमाणत्वात् (1.2.56)। किसी पद का 'यही अर्थ है' इसे अर्थनिर्धारण कहते हैं। अर्थनिर्धारण अष्टाध्यायी नहीं करती, अपितु व्यवहार से होता हैं जहां लक्षणा-व्यञ्जनादि का भी प्रभाव होता है। किन्तु सम्पूर्ण तद्धितप्रकरण अर्थ के आधार पर प्रवर्तित है। वहाँ क्वचित् वाक्य-खण्ड से भी अर्थनिर्देश किया गया है - तदधीतं तद् वेद (पा. 4.2.59), तस्यापत्यम् (पा.) आदि।

पाणिनि प्रथम वैयाकरण नहीं थे। उनसे पूर्व भी अनेक वैयाकरण हुए। 10 वैयाकरणों का नाम उन्होंने स्वयं लिखा है (द्र.पा.)। इसी प्रकार अनेक व्याकरण-सम्प्रदाय हुये। व्याकरण-शास्त्र-परम्परा महेश्वर से प्रारब्ध माना जाता है। यह शास्त्र इतना विशाल है कि **महेश्वर का** व्याकरण यदि समुद्र है तो पाणिनि का प्रयास वहां कुशाग्रबिन्दुरूप है-

समुद्रवत् व्याकरणं महेश्वरे तदर्धकुम्भोद्धरणं वृहस्पतौ।
तद्भागभागाच्च शतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ॥

इस वक्तव्य का आशय जो भी हो है मेरे मत में तु इस व्याकरण के लिये कुशाग्र-बिन्दुत्व उपमान केवल 'गागर में सागर भरना इस उक्ति को चरितार्थ करती है। पाणिनि ने सागरोपम व्याकरण को स्ववैज्ञानिकता के आधार पर कुशाग्रबिन्दु-स्थिति में ले आया। प्रतिपदपाठ-परम्परा के स्थान पर एक नियमबद्ध व्याकरण प्रस्तुत किया। अनेक व्याकरण-सिद्धान्त भी पाणिनि से पहले विद्यमान थे।

अत एव सभी सिद्धान्तों की परिभाषा नहीं की। पाणिनि ने वाक्यतत्व की व्याख्या नहीं की। कात्यायन ने सर्वप्रथम वाक्यलक्षण करने का प्रयास किया-"एकतिङ् वाक्यम्। साव्ययं सकारकं सविशेषणम्"।

पारिभाषिक-पदावली -

पारिभाषिक-पदावली क्या है - स्वतन्त्र संकेत से व्यवहार में, सन्दिग्धार्थों का अर्थविशेष में नियमन करने के लिए, शास्त्रपरिकल्पित नियतार्थ-सम्पादन के लिए पारिभाषिक-पदावली की अपेक्षा होती है।

अन्यशास्त्रों से पाणिनि ने प्रसिद्धार्थक संज्ञा का आहरण किया। जैसे-मन्त्रः, यजुः, नपुंसकम्, लिङ्गम्, क्रिया, वर्तमानः, विभक्तिः, प्रथमा, जातिः, द्रव्यम्, गुणवचनः, विसर्गः, वाक्यम्, विधिः समर्थम्, उपमानम् आदि। पाणिनि निष्पत्तिपरक-व्याकरण-प्रणयन के प्रसंग में प्राचीनतम है। अष्टाध्यायी पद-व्युत्पादक-तन्त्रात्मिका प्रक्रिया का निरूपण करती है। शब्दरूपसाधन-प्रक्रिया धातु से प्रारम्भ होता है। धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्रों का रचयिता पाणिनि थे या नहीं यह एक भिन्न तथ्य है।

जो भी हो अपने व्याकरणशास्त्र अष्टाध्यायी में पाणिनि ने सभी पारिभाषिक-शब्दों की एवं सिद्धान्तों की परिभाषा-करने की आवश्यकता नहीं समझा।

पाणिनि ने अपने व्याकरण में कुल छः प्रकार के सूत्रों का प्रयोग किया-

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम्॥

वैज्ञानिकता एवं लघुता में अन्य भी सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। जैसे - उत्सर्ग - अपवाद सिद्धान्तः, अनुवृत्ति-प्रवृत्ति-निवृत्ति सिद्धान्तः, अनुबन्ध-सिद्धान्तश्च। विभाषा सिद्धान्त भी अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

विकल्प के लिए पाणिनि ने तीन शब्दों का प्रयोग किया - वा, विभाषा एवं अन्यतरस्याम्।

अष्टाध्यायी में वा का प्रयोग 106 वार, विभाषा का प्रयोग 93 बार तथा अन्यतरस्याम् का प्रयोग 112 बार हुआ है। परन्तु ये शब्द पर्यायभूत नहीं है। पाणिनि As a Variationist

– इस पुस्तक में Paul Kiparsky ने इन शब्दों का प्रयोग इस प्रकार दिखाया – (वा) Or rather, Preferably (विभाषा) Or rather not, Preferably not तथा (अन्यतरस्याम्) Either way, alternatively.

अष्टाध्यायी में सिद्ध, असिद्ध भेद से दो खण्ड हैं–सपादसप्ताध्यायी एवं त्रिपादी। पूर्वत्रासिद्धम् से पूर्व विद्यमान खण्ड सपादसप्ताध्यायी खण्ड है। उसके बाद का भाग त्रिपादी कही जाती है। प्रक्रिया में अनिष्टरूपसिद्धिफलक यथेष्टकार्यान्वयनक्रम के निवारण के लिए त्रिपादी–व्यवस्था समाश्रित है। प्रायशः व्यञ्जनादेश–सन्धिनियम असिद्ध–प्रकरण में सूत्रित दीखते हैं। अत एव ठीक कहा गया है – शास्त्रेष्वाद्यं व्याकरणं मुख्यं तत्रापि पाणिनेः। आधुनिक युग में पाणिनि की प्रसिद्धि उस तथ्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत सरकार ने वर्ष 2004 में उनके नाम से 5 रूपये का एक डाक–टिकट जारी किया है।

उपसंहार –

संस्कृत भाषा का आधुनिक स्वरूप अनेक प्रसंगों में देखे जा सकते हैं। धर्म, दर्शन, इतिहास, पुराण, सभ्यता, संस्कृति, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान की सभी शाखा एवं उपशाखाएं, गणित, ज्यामिति, चिकित्साशास्त्र, तकनीकि शास्त्र एवं सूचना प्रौद्योगिकी आदि के आधुनिक प्रसंगों में आज भी संस्कृत प्रासंगिक है। इस आलेख में केवल संगणीय भाषाविज्ञान की दृष्टि से संक्षेप में चर्चा हो पाई है।

(आचार्य, व्याकरण विभाग, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसर, देवप्रयाग, पौड़ी–गढ़वाल, उत्तराखण्ड)

✦✦✦

दिव्यावदानस्य हिन्द्यनुवादे अर्थगताः समस्याः
(वीतशोकावदानस्य विशेषसन्दर्भे)

-डा. प्रफुल्लगड़पालः

बौद्धधर्मस्य आरम्भिकं साहित्यं प्रामुख्येन पालिभाषया संस्कृतभाषया च प्रणीतं वर्तते। तत्र त्रिपिटकसाहित्यं पालिभाषया लभ्यते। त्रिपिटकसाहित्येन साकं पालिभाषया विरचितम् अट्ठकथा(अर्थकथा)-काव्य-कोशादिसाहित्यं चापि उपलभ्यते। पालि-वाङ्मयस्य वर्गीकरणं नव-अङ्गेषु वर्तते। एते 'नवाङ्गाः' इत्युच्यन्ते। ते च सन्ति - 1. सुत्तं, 2. गेय्यं, 3. वेय्याकरणं, 4. गाथा, 5. उदानं, 6. इतिवुत्तकं, 7. जातकं, 8. अब्भुतधम्म, 9. वेदल्लं चेति। एवमेव संस्कृतभाषयापि बौद्धधर्मस्य महान् साहित्यराशिः प्रणीतो जातः। तदेव बौद्धसंस्कृतसाहित्यं साम्प्रतं द्वादशविभागेषु उपलभ्यते। ते द्वादशविभागाः एव द्वादशाङ्गानि द्वादशधर्मप्रवचनानि वा कथ्यन्ते। एतानि च इत्थं वर्तन्ते -

सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम्।
इतिवृत्तकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम्।
उपदेशाद्भुतौ धर्मौ द्वादशाङ्गमिदं वचः॥[1]

एतेषु द्वादशाङ्गेषु अवदानं षष्ठम् अङ्गमस्ति। अवदानशब्दस्य प्रयोगः नैकेषु अर्थेषु जातो वर्तते। तथापि मुख्यतया अवदानशब्दः एतेषु अर्थेषु विशेषेण प्रयुज्यन्तेसम्यक्, शिक्षात्मकं सत्कर्म च।[2] अवदानपदस्यापरार्थो बुद्धवचनानि इत्यपि भवति। अनेन स्पष्टं यत् बौद्धसंस्कृतसाहित्ये अवदानशब्दस्य प्रयोगः प्रायः श्रेष्ठकर्मणः कृते प्रायुज्यत। अवदानस्य अपदानमित्यपि अपरं नाम बौद्धग्रन्थेषु दरीदृश्यते। अवदानसाहित्ये बौद्धधर्मसम्बद्धाः श्रेष्ठाचरणसम्बद्धाः कथा उपनिबद्धाः सन्ति। एतस्य अवदानसाहित्यस्य बौद्ध-वाङ्मये विशिष्टं महत्त्वं वर्तते। तत्रापि दिव्यावदानस्य तु किञ्चिद् विशिष्टमेव महत्त्वं वर्तते।

दिव्यावदानस्य परिचयः महत्त्वं च

दिव्यानां श्रेष्ठानाम् अवदानानां कथानां समाहारः सङ्कलनमेव दिव्यावदानम् अस्ति। दिव्यानां कथानां सङ्कलनात्मकेऽस्मिन् दिव्यावदानाख्ये ग्रन्थे आहत्य अष्टात्रिंशत् अवदानानि सन्ति। तानि च इत्थं वर्तन्ते - 1. कोटिकर्णावदानं, 2. पूर्णावदानं, 3. मैत्रेयावदानं, 4. ब्राह्मणदारिकावदानं, 5. स्तुतिब्राह्मणावदानम्, 6. इन्द्रब्राह्मणावदानं, 7. नगरावलम्बिकावदानं, 8. सुप्रियावदानं, 9. मेण्ढकगृहपतिविभूतिपरिच्छेदः, 10. मेण्ढकावदानम्, 11. अशोकवर्णावदानं, 12. प्रातिहार्यसूत्रं, 13. स्वागतावदानं, 14. सूकरिकावदानं, 15. चक्रवर्तिव्याकृतावदानं, 16. सुकपोतकावदानं, 17. मान्धातावदानं, 18. धर्मरुच्यावदानं, 19. ज्योतिष्कावदानं, 20. कनकवर्णावदानं, 21. सहसोद्गतावदानं, 22. चन्द्रप्रभबोधिसत्त्वचर्यावदानं, 23. संघरक्षितावदानं,

24. नागकुमारावदानं, 25. संघरक्षितावदानं (शेषः), 26. पांशुप्रदानावदानं, 27. कुणालावदानं, 28. वीतशोकावदानम्, 29. अशोकावदानं, 30. सुधनकुमारावदानं, 31. तोयिकामहावदानं, 32. रूपावत्यावदानं, 33. शार्दूलकर्णावदानं, 34. दानाधिकारमहायानसूत्रं, 35. चूडापक्षावदानं, 36. माकन्दिकावदानं, 37. रुद्रायणावदानं, 38. मैत्रकन्यकावदानं च।

बौद्धधर्मस्य महायानशाखायां दिव्यावदानं विशिष्टतया उल्लेखमर्हति। दिव्यावदाने उपलब्धानि इमानि अवदानानि ऐतिहासिक-साहित्यिक-धार्मिक-सांस्कृतिकप्रभृतिदृष्ट्या अत्यन्तं महत्त्वपूर्णानि वर्तन्ते। बौद्धकालीनस्य इतिहासस्य संस्कृतेः च वर्णनं विशेषतः दिव्यावदानस्य आभ्यन्तरस्रोतेभ्य एव प्राप्यते। दिव्यावदानमिदं मिश्रितसंस्कृतेन विरचितं वर्तते। पाणिनेः सूत्रबद्धनियमान् आहोस्वित् पाणिनीयव्याकरणनियमान् विहाय स्वतन्त्ररूपेण अथ वा पालिभाषाशैल्या विरचितमिदं बौद्धसंस्कृतं गाथासंस्कृतं, बौद्धमिश्रसंस्कृतं, मिश्रितबौद्धसंस्कृतं (Buddhist Hybrid Sanskrit) चेति नाम्ना प्रसिद्धं वर्तते। दिव्यावदानस्य प्रणयनं पाणिनीयव्याकरणस्य नियमपालनं विना स्वतन्त्रशैल्या जातं वर्तते। अतः अस्यां भाषायां पालिभाषायाः व्याकरणस्य देशजशब्दानां च प्रयोगः प्राचुर्येण जातः, किन्तु अत्र संस्कृतस्य प्रमुखानि लक्षणानि स्पष्टतया संलक्ष्यन्ते। ई.बी. कौवेलमहोदयानुसार[3] 'दिव्यावदानं विशुद्धेन संस्कृतेन लिखितं वर्तते, तथापि तत्कालीनबौद्धग्रन्थेषु उपलभ्यमानैः शब्द-व्याकरण-पारिभाषिकसंज्ञापदादिभिः इदम् अलंकृतमस्ति एव। तथापि कानिचन अवदानानि पाणिनीयसंस्कृतशैल्या, कानिचन मिश्रसंस्कृतेन च लिखितानि वर्तन्ते।' दिव्यावदानस्य अवदानानां भाषा-शैली पृथक्-पृथक् अवलोक्यते। दिव्यावदानस्थानि कानिचन अवदानानि पालिभाषायाः शैलीमाश्रित्य मिश्रसंस्कृते, कानिचन अवदानानि अर्द्धपाणिनीयशैल्या कानिचन च अवदानानि पाणिनीयशैल्या शुद्धतया विरचितानि वर्तन्ते। वस्तुतः इमानि अवदानानि विविधकालेषु विविधैः प्रणेतृभिः विरचितानि। कालान्तरेण च एतानि सङ्कलितानि जातानि। अतः अवदानानां भाषायां बहुत्र भिन्नता शैलीवैविध्यं च लक्ष्यते।

दिव्यावदानस्य संस्करणानि अनुवादाश्च

दिव्यावदानस्य प्रथमतया सम्पादनं ई.बी. कौवेल-आर.ए नीलाभ्यां कृतमासीत्। 1886 तमे वर्षे इदं संस्करणं केम्ब्रिजविश्वविद्यालयस्य मुद्रणालयतः प्रकाशितं जातम् आसीत्।[4] ततः संस्कृतपण्डितः परशुरामलक्ष्मणवैद्यः एतस्य एव संस्करणस्य आधारेण दिव्यावदानस्य देवनागरीलिप्याम् अन्यत् संस्करणं सम्पाद्यत। संस्करणमिदं 1959 तमे वर्षे बिहारराज्यस्य दरभङ्गास्थ-मिथिलाविद्यापीठेन प्रकाशितम्।

तदनु दिव्यावदानाख्यस्यास्य ग्रन्थस्य आंशिकम् आंग्लानुवादं जोएल ततेलमन-महोदयः (The Heavenly Exploits buddhist biographies from the dīvyāvadāna इति नाम्ना) अकरोत्।[5] अस्मिन् संस्करणे कोटिकर्णावदानं, पूर्णावदानं, सुधनकुमारावदानं माकन्दिकावदानं च उपलभ्यन्ते। तच्च संस्करणं 2005 तमे वर्षे न्यूयार्क-विश्वविद्यालयमुद्रणालयतः जे.जे. फाऊण्डेशनतः प्रकाशतां गतम्। एण्डी-रोटमैनमहोदयः (Divine Stories Divyavadana Part-1 इति नाम्ना) दिव्यावदानस्य आंग्लानुवादं कृत्वा प्रकाशयत। संस्करणमिदं

विसडम-पब्लिकेशनत: 2008 तमे वर्षे प्रकाशितम् अभूत्।[6] अस्मिन् संस्करणे कोटिकर्णावदानं, पूर्णावदानं, मैत्रेयावदानं, ब्राह्मणदारिकावदानं, स्तुतिब्राह्मणावदानम्, इन्द्रब्राह्मणावदानं, नगरावलम्बिकावदानं, सुप्रियावदानं, मेण्डकगृहपतिविभूतिपरिच्छेद:, मेण्डकावदानम्, अशोकवर्णावदानं, प्रातिहार्यसूत्रं, स्वागतावदानं, सूकरिकावदानं, चक्रवर्तिव्याकृतावदानं, शुकपोतकावदानं मान्धातावदानं च वर्तन्ते।

इत्येवम् आंग्लभाषया तु दिव्यावदानस्य आंशिकम् अनुवादं जातं वर्तते। किन्तु भारतस्य राष्ट्रभाषया हिन्दीभाषया अद्यावधि न कोऽपि अनुवाद: केनापि कृतो दृश्यते। पुन: अयं ग्रन्थ: भारतीयेतिहासस्य स्रोतसाम् आधारग्रन्थो वर्तते। बहुषु इतिहासादिग्रन्थेषु दिव्यावदानस्य बहुधा उद्धरणानि लभ्यन्ते। अत एव मया साम्प्रतम् अस्य ग्रन्थस्य हिन्द्यनुवाद: क्रियमाणो वर्तते। अस्य ग्रन्थस्य अनुवादे बह्व्य: समस्या: मया तदा तदा अनुभूता:। ता: एव समस्या: अत्र केषुचित् अंशेषु उपस्थाप्यन्ते-

दिव्यावदानस्य हिन्द्यनुवादे मुख्या: समस्या: -

1. कालस्य विस्तृता -

दिव्यावदानस्य भाषाशैल्या: वैविध्यस्य मुख्यकारणम् अस्य ग्रन्थस्य स्रोतसां भिन्नता एव वर्तते। यथा खलु पूर्वं निर्दिष्टं यत् दिव्यावदानाख्ये अस्मिन् ग्रन्थे आहत्य अष्टात्रिंशत् अवदानानि सन्ति। कौवेल-नील-महोदययो:[7] मतानुसारं दिव्यावदानस्थ-प्रकरणानां कथावस्तु-स्रोतांसि विविधानि सन्ति। तयोर्मतानुसारं "दिव्यावदानस्य बह्व्य: कथा: विनयपिटकात् गृहीता: वर्तन्ते। एतासु गृहीतासु कथासु पौन:पुन्येन अनुशासनविषये निर्देश: कृत: दृश्यते, अनेन कारणेन सहजतया अयं निष्कर्ष: निर्यात:। अन्यत्, इमा: कथा: पालिभाषया विरचितात् कस्माच्चित् ग्रन्थात् साक्षात् नैव अनूदिता, अपि तु एतासां कथानां सम्भवत: कश्चन स्वतन्त्र: उद्गम: स्यात्। कदाचित् किञ्चन विस्तृतं साहित्यमासीत्, तस्यैव साहित्यस्य इमे विकीर्णा: अंशा: कालान्तरेण सङ्कलिता: अभवन्।" एतयोर्महाभागयो: मतानुसारम् 'अवलोकितेश्वर-मञ्जुश्री-विविधविद्या-धारणीनां प्रयोगा: अत्र विरलतया एव जाता: सन्ति। अत: निष्कर्षत: एतासां कथानां निर्मिति: हीनयानात् महायानस्य स्थापनाकाले (संक्रमणकाले) एव अजायत। पुन: इदमपि सुसिद्धं यत् अयं ग्रन्थ: सर्वास्तिवादीनां ग्रन्थो वर्तत इति।'

विण्टरनिट्जमहोदयस्य मतानुसारम् 'अस्य ग्रन्थस्य कथा: प्रकरणानि वा विविधकालेषु रचितानि जातानि वर्तन्ते इति।' ग्रन्थस्यास्य नैका: कथा: ख्रिस्तोत्तरस्य तृतीयशताब्दम् अन्तरा एव लिखिता: अभवन्। दिव्यावदानस्य कासाञ्चित् कथानाम् उपजीव्यग्रन्थौ मूलसर्वास्तिवादीनां **विनयवस्तु** कुमारलातस्य **कल्पनामण्डितिका** च वर्तेते। गिलजितपाण्डुलिपीसु अवस्थितविनयवस्तुनि अस्य ग्रन्थस्य अवदानानि पूर्णत: अंशतो वा समुपलभ्यन्ते। उदाहरणार्थं मान्धातावदानम् अंशतो विनयवस्तो: अंशतो मध्यमागमात् च गृहीतं वर्तते। मान्धातावदाने एवं लिखितमस्ति यत् 'विस्तरेण मान्धातृसूत्रं मध्यमागमे राजसंयुक्तकनिपाते' इति। सुधनकुमारावदानं

स्तुतिब्राह्मणावदानम् अन्यानि च कानिचन अवदानानि विनयवस्तोः अक्षरशः उद्धृतानि वर्तन्ते।[8] पुनः अस्मिन् ग्रन्थे शुङ्गवंशीयस्य राज्ञः पुष्यमित्रस्यापि उल्लेखो लभ्यते। दीनारपदस्यापि प्रयोगः अस्मिन् ग्रन्थे दरीदृश्यते। महान् इतिहासज्ञो दामोदरधर्मानन्दकोसाम्बी स्वीयालेखे 'भारत में बौद्धधर्म की क्षय'[9] इत्यत्र चीनदेशस्य यात्रीणां प्रमाणैः इदं प्रतिपादयति यत् 'हर्षकाले भारते नाणकादीनां प्रयोगः नासीत्। तस्मिन् काले वस्तुविनिमयप्रणाल्याः एव उद्योगकर्म प्रचलति स्म। हर्षकालस्य नाणकानि सम्प्रति नैव समुपलब्धानि सन्ति। अपि तु मौर्यकालस्य नाणकानि साम्प्रतं बहुसंख्यायाम् उपलभ्यन्ते।' अपि च अस्मिन् ग्रन्थे कुमारलातप्रणीतस्य कल्पनामण्डितिका इति ग्रन्थस्य बहूनि उद्धरणानि समुपलभ्यन्ते। अतोऽयं ग्रन्थः चतुर्थशताब्दे सङ्कलितो जातः स्यादिति विद्वद्भिः सम्भाव्यते। विदुषां मतानुसारं खिस्तोत्तरे 200तः 350 इत्यस्मिन् काले अस्य ग्रन्थस्य सङ्कलनं जातं स्यादिति।

2. भाषा-शैली

दिव्यावदानस्य प्रणयनं संस्कृतभाषया जातं वर्तते, किन्तु अस्य ग्रन्थस्य कानिचन अवदानानि शुद्धसंस्कृतेन कानिचन च अवदानानि मिश्रबौद्धसंस्कृतेन रचितानि। ग्रन्थेऽस्मिन् देशजशब्दानां प्राचुर्यं वर्तते। अत्र प्रयुक्ता नैके शब्दाः संस्कृतकोषेषु नैव उपलभ्यन्ते। क्वचित् क्वचित् गौडीरीत्या दीर्घानि समासबहुलानि वाक्यानि वर्तन्ते। बहुत्र प्रश्नोत्तरशैलीमाश्रित्य कथावस्तु गुम्फितं वर्तते। इत्येवं दिव्यावदानस्य प्रणयने काचित् विशिष्टा एव शैली आश्रिता दृश्यते। दिव्यावदानस्य भाषाशैलीविषये उदाहरणत्वेन केचन अंशाः अत्र उपस्थाप्यन्ते-

दिव्यावदानस्थे कोटिकर्णावदाने बलसेनः कोटिकर्णं कथयति यत् 'यदि त्वं तिलतण्डुलकोलकुलत्थन्यायेन रत्नानि परिभोक्ष्यसे, तथापि मे रत्नानां परिक्षयो न स्यात्।'[10] अत्र 'तिलतण्डुलकोलकुलत्थन्यायः' इति पदं काव्यप्रणेत्रा प्रयुक्तम्। दिव्यावदाने बहुत्र कथागुम्फनावसरे एतादृशानां न्यायानां, लोकोक्तिनां च प्रयोगः लभ्यते। एतादृशानां पदानां पदसमुच्चयानां च अर्थनिर्धारणं काचित् समस्याभूता एव तिष्ठति।

दिव्यावदाने केषुचित् अवदानेषु गौडीरीत्या दीर्घानि समासबहुलानि वाक्यानि समुपलभ्यन्ते। अत्र तावत् मैत्रकन्यकावदाने एव केचन गद्यांशाः इत्थं वर्तन्ते-

अथ मैत्रकन्यको बोधिसत्त्वो विविधविहारायतनपर्वतोपवननगह्वरसरित्तडागाराम-रमणीयतरानेकनगरनिगमकर्वटग्रामादीननुविचरन् क्रमेण समुद्रतीरं संप्राप्य सञ्जीकृतयानपात्रो भुजगपतिवदनविसृतश्वसनचपलबलविलुलितविपुलविमलसलिल-मरुणतरुणकिरणनिकररुचिरपद्मरागपुञ्जप्रभारागरञ्जितोर्मिमालाजलमसुरस्वरसमुसुरपर-सुरेश्वरकरोदरस्फुरितहुतवहशिखावलीकरालपन्नपतनभयनिलीनधरणीधरशिखर-पराहतजलोद्धतोत्तुङ्गतरंगभङ्गरौद्रं समुद्रमवततार।[11]

अत्रैव कश्चन अन्यः गद्यांशस्तावत् अवलोकनीयः -

क्वचिदुपचितवारणदन्तशिखाशनिदारितशिखरततं प्रविरूढविलासशिखागरु-

वृक्षवनम्। क्वचिदुपरिपयोधरभारतलध्वनिरञ्जितशिखिकुलाविष्कृतपिच्छकलापविचित्रितचारुतटम्। क्वचिदनिलविकम्पितपुष्पतरुं स्खलितोज्ज्वलसुरभिबलं कुसुमप्रबलप्रतिवासितसानुशिखरम्।[12]

अत्रैव अन्योऽपि कश्चन गद्यांशः द्रष्टव्योऽस्ति –

क्वचिदर्कमहारथचक्रनिपातविखण्डितमयूखकलापकरालितनैकमहामणिपल्लवसञ्चयं मौलिभरावनतोन्नतभासुरवज्रधरम्।

क्वचिदिन्द्रकरीन्द्रविमर्दतरंगनयभ्रमितप्रचलत्कलहंसकुलावलिहारनभस्सरिदम्बुविधौतशिलम्।

क्वचिदण्डजराजविलाससमुच्छ्रितयक्षमहाभुजवज्रविपाटितसागरवारितलोद्धृतपन्नगभोगधरम्।

क्वचिदेव सुरसुगसंयुगशस्त्रविपन्नमहासुरविद्रुतशोणितरङ्गमहावलयम्।[13]

सुप्रियावदाने च इत्थं दीर्घानि वाक्यानि लभ्यन्ते –

अद्राक्षीत् सुप्रियो महासार्थवाहश्चतुर्थं चतूरत्नमयं किन्नरनगरमारामोद्यानप्रसाददेवकुलपुष्करिणीतडाग- सुविभक्तरथ्यावीथीचत्वरशृंगाटकान्तरापणसुरचितगन्धोज्ज्वलं नानागीतवादितयुवतिमधुरस्वरवज्रवैडूर्यशातकुम्भमयप्राकारतोरणोपशोभितम्। द्वारं त्रिराकोटयति।[14]

चन्द्रप्रभबोधिसत्त्वचर्यावदाने एवमेव कानिचन दीर्घानि वाक्यानि लभ्यन्ते–

भूतपूर्वं भिक्षोऽतीतेऽध्वन्युत्तरापथे भद्रशिला नाम नगरी राजधानी अभूत्, ऋद्धा च स्फीता च क्षेमा च सुभिक्षा च आकीर्णबहुजनमनुष्या च। द्वादशयोजनान्यायामेन द्वादशयोजनानि विस्तरेण चतुरस्त्रा चतुर्द्वारा सुविभद्रा उच्चैस्तोरणगवाक्षवातायनवेदिकाप्रतिमण्डिता नानारत्नसंपूर्णा सुसमृद्धसर्वद्रव्यवणिग्जननिकेता पार्थिवामात्यगृहपतिश्रेष्ठिराष्ट्रिकनीति(?)मौलिधराणामावासो वीणावेणुपणवसुघोषकबल्लरीमृदङ्गमेरीपटहशङ्खनिर्नादिता। तस्यां च राजधान्यामगुरुगन्धाश्चन्दनगन्धाश्चूर्णगन्धाः सर्वकालिकाश्च कुसुमगन्धा नानावातमीरिता अतिरमणीया वीथीचत्वरशृङ्गाटकेषु वायवो वायन्ति स्म। हस्त्यश्वरथपत्तिबलकायसंपन्ना युग्ययानोपशोभिता विस्तीर्णातिरमणीयवीथीमहापथा उच्छ्रितविचित्रध्वजपताका तोरणगवाक्षाध्रचन्द्रावनद्धा अमरालय इव शोभते। उत्पलपद्मकुमुदपुण्डरीकानि सुरभिजलजकुसुमपरिमण्डितानि स्वादुस्वच्छशीतलतिलकपुंनागनागकेशरचम्पकबकुलातिमुक्तकपाटलापुष्पसंछन्ना कलविङ्कशुकशारिकाकोकिलबर्हिगणजीवंजीवकोन्नादितवनषण्डोद्यानपरिमण्डिता। भद्रशिलायां च राजधान्यामन्यतरं मणिगर्भं नाम राजोद्यानं नानापुष्फलवृक्षविटपोपशोभितं सोदपानं हंसक्रौञ्चमयूरशुकशारिकाकोकिलजीवंजीवकशकुनिमनोज्ञरवनिर्नादितमतिरमणीयम्। एवं सुरमणीया भद्रशीला राजधानी बभूव। भगदशिलायां राजधान्यां राजाभूच्चन्द्रप्रभो

नाम अभिरूपो दर्शनीयाः प्रासादिको दिव्यचक्षुश्चतुर्भागचक्रवर्ती धार्मिको धर्मराजा जम्बुद्वीपे राज्यैश्वर्याधिपत्यं कारितवान् स्वयंप्रभुः। न खलु राज्ञश्चन्द्रप्रभस्य गच्छतोऽन्धकारं भवति, न च मणिर्वा प्रदीपो वा उल्का पुरस्तात् नीयते, अपि तु स्वकात् कायात् राज्ञश्चन्द्रप्रभस्य प्रभा निश्चरन्ति तद्यथा चन्द्रमण्डलाद्रश्मयः। अनेन कारणेन राज्ञश्चन्द्रप्रभस्य चन्द्रप्रभ इति संज्ञा बभूव।[15]

इत्थं प्राञ्जलभाषया समासबहुलशैल्या च दिव्यावदानस्य कानिचन अवदानानि लिखितानि वर्तते।

3. पारिभाषिकपदानि –

दिव्यावदाने बहुत्र कानिचन पारिभाषिकानि देशजपदानि च लभ्यन्ते। बौद्धधर्मस्य बौद्धसंस्कृतेश्च अनुसारम् एतेषां पदानां विशिष्टोऽर्थः भवति। कानिचन पदानि कमपि विषयम् उपस्थापयितुं प्रयुक्तानि वर्तन्ते किन्तु तानि संस्कृतभाषायां नैव दृश्यन्ते। पालिभाषायाः तत्साहित्यस्य अवगाहनं कृत्वैव एतेषां पदानाम् अर्थः ज्ञातुं शक्यते। केवलं संस्कृतभाषायाः तत्साहित्यस्य च आधारेण एतेषां पारिभाषिकानां देशजानां च पदानाम् अर्थः स्पष्टीकर्तुं नैव शक्यते। इत्येवं दिव्यावदाने लब्धानां पारिभाषिकपदानाम् अर्थनिर्धारणं काचित् विशिष्टा समस्या वर्तते। अर्थनिर्धारणकाले सम्प्राप्तानि तादृशानि कानिचन पदानि अधः प्रदीयन्ते–

जातिमहं, अकणक, अकायिका, अक्षुण्णवेध, अगद, अघरिका, अच्छाटाशब्द, अतरपण्येन, अतिनामयति, अअत्ययमत्ययतो देशयति, अअत्ययिकपिण्डपात, अदत्तादानम्, अधरिम, अध्युपेक्षति, अध्येषते, अनवराग्र, अनीक्षक, अन्तरान्तरात्, अपचायक, अपत्तनम्, अपवरक, अप्रियाख्यायिन्, अभिध्यालु, अभिनिर्हरति, अभ्यर्थीयसे, अयस्किल, अल्पाबाधता, अश्मगर्भ, अष्टांगमार्गदेशिकः, आयपित, आशाटवी, उत्पाण्डूत्पाण्डुक, उदानम् उदानयति, उपाहिण्डते, कृतभक्तकृत्य, क्षेमणीयतर, ग्लानप्रत्यय, चञ्चूर्यमाण, चिटिचिटायते, तिरःप्रतिवेश्य, तीमयति, त्रिकोटयति, दौवर्णिक, धन्व, नवकान्त, निशाम्यति, पर्यनुयुक्त, पर्यन्तिकृत, पर्यवदात, पर्यवदापयितृ, पर्यवस्थान, पर्यादान, पर्युपासना, पश्चच्छ्रमण, पुरोभक्तका, पेडा, प्रत्यवतरति, प्रत्यूढ, प्रयोक्त्र, बुसप्लावी, यमलि, विनिवर्ति, श्रमणोद्देश, समुच्छ्रय इत्यादयः।

3. उपसर्गविहीनपदप्रयोगाः –

दिव्यावदाने बहुत्र उपसर्गविहीनानां पदानां प्रयोगः जातः वर्तते। एतेषाम् उपसर्गविहीनानां धातुपदानां प्रयोगेण अर्थनिर्धारणे बहुधा समस्या समुत्पद्यते। उपसर्गप्रयोगेण एव धातुपदं कमपि विशिष्टम् अर्थम् उपस्थापयति। किन्तु दिव्यावदानस्य भाषायां बहुत्र उपसर्गविहिनपदप्रयोगस्य कारणेन अनुवादकाले अर्थगता समस्या समायाति। तद्यथा–

कोटिकर्णावदाने एव केचन तादृश प्रयोगाः अस्माकं दृक्पथं समायान्ति। तानि च इत्थं वर्तन्ते–

1. मातापितरौ रक्तौ भवतः संनिपतितौ[16] .....

अत्र रक्तौ इति क्रियापदं संलक्ष्यते। अस्मिन् स्थाने यदि संरक्तौ इति पदम् अभविष्यत् तर्हि अर्थावबोधः सरलतया कर्तुं शक्यते।

2. तस्य पित्रा त्रीणि वासगृहाणि मापितानि हैमन्तिकं ग्रैष्मिकं वार्षिकम्।[17] .....

अत्र मापितानि इत्यस्मिन् स्थाने निर्मापितानि इति क्रियापदम् अभविष्यत् चेत् अस्य वाक्यस्य अर्थावबोधने न किमपि काठिन्यम् अभविष्यत्।

इत्येवं दिव्यावदाने अनुवादकाले बहव्यः अर्थगताः समस्या दरीदृश्यन्ते। अत्र दिव्यावदाने समायाताः अर्थगताः समस्याः उपस्थापिताः। साम्प्रतं वीतशोकावदानस्य अनुवादकाले अनुभूताः अर्थगताः समस्याः अत्र विस्तरेण उपस्थाप्यन्ते–

वीतशोकावदानस्य हिन्द्यनुवादे अर्थगतसमस्याः –

वीतशोकावदाने आदौ एव वाक्यद्वयम् इत्थं वर्तते – 'यदा राज्ञा अशोकेन भगवच्छासने श्रद्धा प्रतिलब्धा, तेन चतुरशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं पञ्चवार्षिकं च कृतम्। त्रीणि शतसहस्राणि भिक्षूणां भोजितानि यत्रैकोऽर्हतां द्वौ शैवाणां पृथग्जनकल्याणकानां च।'[18]

एतयोर्वाक्ययोः हिन्द्यनुवादः इत्थं भवितुमर्हति – 'जब राजा अशोक के द्वारा भगवान् के शासन में श्रद्धा पाई गई, (तब) उसने चौरासी हजार धर्मराजिकों (धर्मपीठों) की प्रतिष्ठा (स्थापना) की तथा पञ्चवार्षिक (पाँच वर्षों तक भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था) किया। इसमें तीन लाख भिक्षु भोजित किये जाते थे, जिनमें एक (लाख) अर्हत, दो (लाख) शैव तथा अन्य प्रकार के भिक्षु होते थे।'

हिन्द्यनुवादे एतयोः वाक्ययोः वाक्यसंरचनासम्बन्धिनी काचित् अर्थगता न्यूनता वर्तते। अतः संस्कृतवाक्ययोः हिन्द्यनुवादः इत्थं भवेत्–

'जब राजा अशोक की भगवान् के शासन (धम्म) में श्रद्धा उत्पन्न हुई, (तब) उसने चौरासी हजार धर्मराजिकों (धर्मपीठों) की प्रतिष्ठा (स्थापना) की तथा पञ्चवार्षिक (पाँच वर्षों तक भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था) किया। इसमें तीन लाख भिक्षुओं को भोजन दिया जाता था। (पञ्चवार्षिक में) एक (लाख) अर्हत, एक (लाख) शैव व एक (लाख) अन्य प्रकार के भिक्षु होते थे।'

ततः अग्रे विवरणमित्थम् उपलभ्यते–

अथ राजा अशोकोऽपरेण समयेन मृगवधाय निर्गतः। तत्र वीतशोकेनारण्ये ऋषिर्दृष्टः पञ्चातपेनावस्थितः। स च कष्टतपः सारसंज्ञी। तेनाभिगम्य पादाभिवन्दनं कृत्वा स ऋषिः पृष्टः–भगवन्, कियञ्चिरं ते इहारण्ये प्रतिवसतः?[19]

अस्य गद्यांशस्य हिन्द्यनुवादः इत्थं भवेत् – फिर क्या हुआ किसी समय राजा अशोक शिकार के निमित्त निकला। (राजा के साथ गए हुए उसके छोटे भाई) वीतशोक ने वन में पञ्चातप में अवस्थित एक ऋषि को देखा। उस ऋषि ने कठोर में तपकर सार जान लिया

था। तब उसने (वीतशोक ने) ऋषि के पास जाकर चरण-वन्दन करके उस ऋषि से पूछा- 'हे भगवन्! आपको इस वन में रहते हुए कितना काल हो चुका है?

उपर्युक्ते गद्यांशे हिन्द्यनुवादे काश्चन अर्थगताः समस्याः सन्ति। ताश्च इत्थं वर्तन्ते- अत्र लिखितं वर्तते यत् 'अथ राजा अशोकोऽपरेण समयेन मृगवधाय निर्गतः। तत्र वीतशोकेनारण्ये ऋषिर्दृष्टः पञ्चातपेनावस्थितः।' अत्र उल्लेखो वर्तते यत् राजा अशोकः मृगयार्थं निर्गच्छतीति। पुनः साक्षात् वीतशोकस्य वर्णनं कृतं वर्तते यत् 'तत्र वीतशोकेनारण्ये ऋषिर्दृष्टः पञ्चातपेनावस्थितः।' वीतशोकस्य साक्षात् वर्णनकारणेन अर्थनिर्धारणे काचित् बाधा उपस्थिता जायते। यतो हि राजा अशोकः मृगयार्थं निर्गतः किन्तु तत्र अरण्ये वीतशोकेन ऋषिः कथं वा दृष्टः स्यात्, निश्चयेन अशोकेन सह वीतशोकोऽपि गतः स्यादेव। अतोऽत्र अयमपि उल्लेखो भवितव्यः यत् राज्ञा अशोकेन सह तस्य अनुजः वीतशोकोऽपि अरण्यं गतः आसीदिति। पुनः अग्रे उल्लेखोऽस्ति यत् 'स च कष्टतपः सारसंज्ञी।' कोऽत्र कष्टतपः सारसंज्ञी ऋषिर्वा वीतशोकः अथ वा राजा अशोकः। प्रसङ्गानुसारं ज्ञायते यत् सः कष्टतपः सारसंज्ञी ऋषिः एव भवेदिति। तदनन्तरं वर्णनमस्ति यत् 'तेनाभिगम्य पादाभिवन्दनं कृत्वा स ऋषिः पृष्टः- भगवन्, कियञ्चिरं ते इहारण्ये प्रतिवसतः?' अत्रापि काचित् अर्थगता समस्या दृश्यते यत् कष्टतपसः सारसंज्ञिनः ऋषेः वर्णनानन्तरं साक्षात् तेनाभिगम्य पादाभिवन्दनं कृत्वा स ऋषिः पृष्टः इति। तर्हि अत्रापि जिज्ञासा उत्पद्यते यत् केनाभिगम्य पादाभिवन्दनं कृत्वा स ऋषिः पृष्टः? ऋषिणा पादाभिवन्दनं कृत्वा किम् अन्यः ऋषिः पृष्टः अथवा वीतशोकेन सः एव कष्टतपः सारसंज्ञी ऋषिः पृष्टः इति। प्रसङ्गानुसारं वीतशोकेन एव सः कष्टतपः सारसंज्ञी ऋषिः पृष्टः।

वीतशोकावदानस्य कथावर्णनशैली काचित् अतीव रुचिरा शैली वर्तते। अवदानेऽस्मिन् तत्र तत्र प्रश्नोत्तरशैल्या कथावस्तु गुम्फितं वर्तते। अत्र तादृशप्रश्नोत्तरशैलीयुतः कश्चन प्रसङ्गः उपलभ्यते -

'तेनाभिगम्य पादाभिवन्दनं कृत्वा स ऋषिः पृष्टः—भगवन्, कियञ्चिरं ते इहारण्ये प्रतिवसतः? स उवाच—द्वादश वर्षाणीति। वीतशोकः कथयति—कस्तवाहारः? स ऋषिरुवाच—फलमूलानि। किं प्रावरणम्? दर्भचीवराणि। का शय्या? तृणसंस्तरणम्। वीतशोक उवाच—भगवन्, किं दुःखं बाधते? ऋषिरुवाच—इमे मृगा ऋतुकाले संवसन्ति। यदा मृगानां संवासो दृष्टो भवति, तस्मिन् समये रागेण परदिह्यामि।'[20]

उपर्युक्तेऽस्मिन् वाक्यांशे प्रश्नोत्तरशैल्यां वीतशोकस्य ऋषेश्च मिथः संवादः प्रचलति। संवादेऽस्मिन् वीतशोकः प्रश्नान् पृच्छति ऋषिश्च तेषां प्रश्नानाम् उत्तरं ददाति। अस्मिन् प्रश्नान् अन्तरा 'किं प्रावरणम्? दर्भचीवराणि। का शय्या? तृणसंस्तरणम्।' इत्यपि वार्तायाः अंशः उपलभ्यते। अयम् अंशस्तावत् तत्र विभ्रमम् उपत्पादयति यत् को वा अस्य अंशस्य अर्थः इति। पुनः प्रसङ्गानुसारं तत्र 'किं प्रावरण'मिति वीतशोकः ऋषिं पृच्छति, ऋषिश्च दर्भचीवराणि इति तस्य प्रश्नस्य उत्तरं कथयति। पुनः वीतशोकः प्रश्नम् उत्थापयति यत् 'का शय्ये'ति। ऋषिः तस्य प्रश्नस्य उत्तरं कथयति यत् तृणसंस्तरणम् इति।

इत्येवम् अस्य गद्यांशस्य हिन्द्यनुवाद इत्थं भवेत् -

तब उसने (वीतशोक ने) ऋषि के पास जाकर चरण-वन्दन करके उस ऋषि से पूछा- 'हे भगवन्! आपको इस वन में रहते हुए कितना काल हो चुका है? उस (ऋषि) ने कहा-'बारह वर्ष।' वीतशोक ने पूछा- आपका आहार क्या है? उस ऋषि ने कहा- 'फल-मूल।' (वीतशोक ने पूछा)- 'आप क्या पहनते हैं?' (ऋषि ने कहा)- 'चर्म और चीवर।' (वीतशोक ने फिर पूछा)- 'आपकी शय्या क्या है?' (ऋषि ने बताया)- 'तिनकों की शय्या है।' फिर वीतशोक ने पूछा- 'भगवन्, क्या आपको कोई दुःख है।' ऋषि ने कहा- 'ये मृग ऋतुकाल में यहीं निवास करते हैं। जब मैं इन्हें सहवास करता देखता हूँ, तो मैं राग से जलने लगता हूँ।'

ततः अयमंशोऽपि एनामेव शैलीमाश्रयति। तीर्थ्याभिप्रसन्नं वीतशोकं बुद्धमते प्रवेशयितुकामः राजा अशोकः मन्त्रिभिः सह उपायेन मौलिं पट्टं च वीतशोकाय बद्धापयितुमिच्छति। अशोकस्य मन्त्रिभिः सह वार्तालापः इत्थं प्रचलति। यथा - 'एतञ्च वचनं श्रुत्वा राजा उपायज्ञोऽमात्यानुवाच–अयं वीतशोकस्तीर्थ्याभिप्रसन्नः। उपायेन भगवच्छासनेऽभिप्रसादयितव्यः। अमात्या आहुः–देव, किमाज्ञापयसि? राजा आह–यदा अहं राजा अलंकारं मौलिं पट्टं चापनयित्वा स्नानशालां प्रविष्टो भवामि, तदा यूयं वीतशोकस्योपायेन मौलिं पटं च बद्ध्वा सिंहासने निषादयिष्यथ। एवमस्तु इति। यावद्राजा राजालंकारं मौलिं पट्टं चापनयित्वा स्नानशालायां प्रविष्टः, ततोऽमात्यैर्वीतशोक उच्यते–राज्ञोऽशोकस्यात्ययात् त्वं राजा भविष्यसि।[21]

उपर्युक्ते गद्यांशे ....एवमस्तु इति ..... वाक्यांशः लिखितो वर्तते। को वा अस्य अर्थः स्यात् इति तत्र कश्चन प्रश्नः उदेति। वस्तुतः 'एवमस्तु' इति अमात्याः अशोकं कथयन्ति।

ततोऽग्रे उल्लेखो लभ्यते यत् प्रव्रजितो अर्हन् वीतशोकः राजानं मेलितुं समागच्छति। प्रत्यावर्तनकाले राजा च तमनुसरति। तस्य वर्णनं वीतशोकावदाने इत्थं लभ्यते-

अथ राजा अशोकः कृतकरपुटः पञ्चभिरमात्यशतैः परिवृतोऽनेकैश्च पौरजनपदसहस्रैः परिवृतः पुरस्कृत आयुष्मन्तं वीतशोकमनुव्रजितुमारब्धः। वक्ष्यति हि–

भ्राता ज्येष्ठेन राज्ञा तु गौरवेणानुगम्यते।
प्रव्रज्यायाः खलु श्लाघ्यं संदृष्टिकमिदं फलम्॥22॥[22]

अस्य गद्यांशस्य हिन्द्यनुवादः इत्थं वर्तते-

'तब दोनों हाथ जोड़े हुए राजा अशोक, पाँच सौ मंत्रियों और हजारों नगरवासियों से घिरा हुआ, भीड़ के साथ आयुष्मान् वीतशोक के पीछे-पीछे चला।' कहा (भी) गया है-

'(अहो!) बड़ा भाई राजा होकर भी छोटे भाई को इतना गौरव देकर उसका अनुगमन कर रहा है। प्रव्रज्या का यही श्लाघ्य व सांदृष्टिक (देखने योग्य) फल होता है।'

गद्यांशस्यास्य हिन्द्यनुवादे काचित् अर्थगता समस्या संलक्ष्यते। तत्र वर्णनमस्ति यत् 'अथ राजा अशोकः कृतकरपुटः पञ्चभिरमात्यशतैः परिवृतोऽनेकैश्च पौरजनपदसहस्रैः परिवृतः पुरस्कृत आयुष्मन्तं वीतशोकमनुव्रजितुमारब्धः। वक्ष्यति हि' अस्मिन् गद्यांशे आदौ

राज्ञः अशोकस्य वर्णनं वर्तते। ततः लिखितं वर्तते यत् 'वक्ष्यति हि' इति। अत्र 'वक्ष्यति हि' इत्यत्र 'को वक्ष्यति' इति प्रश्नः समुदिति। अत्र राजा अशोकस्य वर्णनमस्ति अतः विभ्रमो जायते यत् राजा एव वक्ष्यति इति। किन्तु अग्रे श्लोकस्य भावार्थं ज्ञात्वा भाति यत् वीतशोकावदानस्य विरचयिता एव तत्र स्वाभिप्रायं प्रकटयति यत् 'वक्ष्यति हि' इति। ततः श्लोके सः स्वीयं मन्तव्यं प्रस्तौति।

ततः कथायाः अन्ते कश्चन गद्यांशः लक्ष्यते-

भूतपूर्वं भिक्षवोऽतीतेऽधवनि अन्यतमो लुब्धो मृगान् प्रघातयित्वा जीविकां कल्पयति। अटव्यामुदपानम्। स तत्र लुब्धो गत्वा पाशान् यन्त्रांश्च स्थापयित्वा मृगान् प्रघातयति। असति बुद्धानामुत्पादे प्रत्येकबुद्धा लोके उत्पद्यन्ते। विस्तरः। अन्यतरः प्रत्येकबुद्धस्तस्मिन्नुदपाने आहारकृत्यं कृत्वा उदपानादुत्तीर्य वृक्षमूले पर्यङ्केन निषण्णः। तस्य गन्धेन मृगास्तस्मिकुदपाने नाभ्यागताः। स लुब्ध आगत्य पश्यति—नैव मृगा उदपानमभ्यागताः। पदानुसारेण च तं प्रत्येकबुद्धमभिगतः। दृष्ट्वा चास्य बुद्धिरुत्पन्ना—अनेनैष आदीनव उत्पादितः। तेनासिं निष्कोषं कृत्वा स प्रत्येकबुद्धः प्रघातितः।।[23]

उपर्युक्तेऽस्मिन् गद्यांशे .... विस्तरः ... इति कश्चन शब्दः उपलभ्यते। अस्य विस्तरः इति शब्दस्य कथानुसारी को अर्थः स्यात् इति काचित् अर्थगता समस्या वर्तते।

टिप्पणयः

1. हरिभद्र-आलोकः, बडौदासंस्करणं, पृ. 35, दिव्यावदानस्य ग्रन्थस्य प्रस्तावनातः उद्धृतमिदम्
2. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा, द्विवेदी रामायण प्रसाद, वाराणसी, काशी हिन्दू वि. वि., 1976, (पृ. 385-386)
3. दिव्यावदानम्, वैद्यः पी. एल., मिथिलाविद्यापीठम्, दरभङ्गा, बिहारम्, प्रस्तावना XIV
4. दिव्यावदानम्, प्रस्तावना I
5. अन्तर्जाले इदं संस्करणं लभ्यते।
6. अन्तर्जाले अस्य ग्रन्थस्य विज्ञापनं लभ्यते।
7. दिव्यावदानम्, वैद्यः पी. एल., मिथिलाविद्यापीठम्, दरभङ्गा, बिहारम्, प्रस्तावना XVI
8. दिव्यावदानम्, वैद्यः पी. एल., मिथिलाविद्यापीठम्, दरभङ्गा, बिहारम्, प्रस्तावना XVII
9. भारत में बौद्धधर्म की क्षय - दामोदर धर्मानन्द कोसाम्बी, अन्तर्जालतः स्वीकृतोऽयं लेखः
10. कोटिकर्णावदानम्, वैद्यः पी. एल., मिथिलाविद्यापीठम्, दरभङ्गा, बिहारम्, पृ. 2
11. मैत्रकन्यकावदानं, दिव्यावदानं, पृ. 492
12. मैत्रकन्यकावदानं, दिव्यावदानं, पृ. 503
13. मैत्रकन्यकावदानं, दिव्यावदानं, पृ. 503
14. सुप्रियावदानं, दिव्यावदानं, पृ. 73
15. चन्द्रप्रभबोधिसत्त्वचर्यावदानं, दिव्यावदानं, पृ. 195

16. कोटिकर्णावदानं, पृ. 1, सुधनकुमारावदानं, पृ. 286
17. कोटिकर्णावदानं, पृ. 1
18. वीतशोकावदानं, पृ. 272
19. वीतशोकावदानं, पृ. 272
20. वीतशोकावदानं, पृ. 272
21. वीतशोकावदानं, पृ. 272
22. वीतशोकावदानं, पृ. 276
23. वीतशोकावदानं, पृ. 278

सन्दर्भग्रन्थाः

1. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा, द्विवेदी रामायण प्रसाद, काशी हिन्दू वि. वि., वाराणसी
2. दिव्यावदानम्, वैद्यः पी. एल., मिथिलाविद्यापीठम्, दरभङ्गा (बिहारम्)
3. दिव्यावदान में संस्कृति का स्वरूप, डॉ. श्याम प्रकाश, प्रगति प्रकाशन, आगरा (उ. प्र.)
4. जातकमाला - आर्यशूरः, (व्यासः डा. सूर्यप्रकाशः), वाराणसी चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1994
5. जातकमाला-एक अध्ययन - मिश्र कमलाकान्त, इलाहाबाद, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, 1977
6. बुद्ध का चक्रवर्ती साम्राज्य - चन्द्रा राजेश, नई दिल्ली, किताबघर प्रकाशन 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज, 2006
7. बौद्धयुगीन भारत - दुबे सीताराम, दिल्ली, प्रतिभा प्रकाशन, 29/5, शक्ति नगर, दिल्ली 1996
8. बौद्ध धर्म का इतिहास और साहित्य - रीस डेविड्स, नई दिल्ली, सम्यक् प्रकाशन 32/3, क्लब रोड, पश्चिम पुरी, 2008
9. बौद्ध साहित्य में भारतीय समाज - सिंह परमानन्द, मोतीलाल बनारसी, 2008
10. भारतीय संस्कृति - त्रिपाठी रूपनारायण साहू रामदेव, जयपुर श्याम प्रकाशन, 2001
11. भारतीय संस्कृति को बौद्ध देन - उपाध्याय, जगन्नाथ, नई दिल्ली भारतीय बौद्ध महासभा दिल्ली प्रदेश, बुद्ध विहार, अम्बेडकर भवन, 2006
12. संस्कृत बौद्ध साहित्य में इतिहास और संस्कृति - अँगने लाल, लखनऊ, उ. प्र. हिन्दी संस्थान, 2006

पत्र-पत्रिका

1. ज्ञानायनी, बौद्ध संस्कृति विशेषांक, भाग-1 - पाण्डेय शिशिर कुमार (2005)
2. ज्ञानायनी, बौद्ध संस्कृति विशेषांक, भाग-2 - पाण्डेय शिशिर कुमार, (2007)
3. ज्ञानायनी, बौद्ध संस्कृति विशेषांक, भाग-4 - पाण्डेय शिशिर कुमार, (2008)

(सहायकाचार्य, साहित्यम्, राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्,
श्रीरघुनाथ-कीर्ति-परिसरः, देवप्रयाग, पौड़ी-गढ़वाल, उत्तराखण्ड)

✦✦✦

इतिहासकार के रूप में कल्हण

–डॉ. अरविन्द सिंह गौर

कश्मीरी कवि कल्हण तथा उनके ग्रन्थ राजतंरगिणी का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान है। यह संस्कृत में उपलब्ध उन रचनाओं में सर्वाधिक प्रथम महत्वपूर्ण रचना है जिसमें ऐतिहासिक इतिवृत्त की विशेषताएँ हैं। इस ग्रन्थ की रचना सुस्सल के पुत्र कश्मीर नरेश जयसिंह (1127 ई. – 1159 ई.) के शासन काल में 1148–49 ई. में हुई।[1] इनके आठ सर्गों में कल्हण ने भूवैज्ञानिक युग से लेक स्वयं अपने युग तक के कश्मीर के इतिहास का विवरण दिया है। कल्हण के विवरण में निष्पक्षता एवं यथार्थता है। कल्हण ने स्वयं अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि वही गुणवान कवि प्रशंसा का अधिकारी है जो राग–द्वेष से ऊपर उठकर एकमात्र सत्य के निरूपण में अपनी वाणी का प्रयोग करता है।

श्लाघ्यः स एव गुणवान रागद्वेष वहिष्कृता।
भूतार्थकथने यस्य स्थेयस्येव सरस्वती।।[2]

अतः इसमें संदेह नही कि स्वयं कल्हण ने भी इस आदर्श का पूर्ण पालन किया है। राजतंरगिणी में कश्मीर के राजाओं का विस्तृत वर्णन है। इसमें 8 सर्गों में 8,000 से अधिक श्लोक हैं। द्वितीय सर्ग में सबसे कम श्लोक (171) जबकि आठवें सर्ग में सर्वाधिक श्लोक (3449) हैं।[3]

कल्हण के पिता का नाम चण्पक था वे कश्मीर के राजा हर्ष (1089 ई. 1101 ई.) के सलाहकार थे। कल्हण का वास्तविक नाम कल्याण था।[4] इनके पिता ने राजा हर्ष का कठिन परिस्थितियों में भी साथ नहीं छोड़ा था। कल्हण का जन्म डॉ. कीथ ने 1100 ई. माना है।[5] चूँकि उनका परिवार राजनीतिक सत्ता के काफी निकट था एवं उन्हें इस क्षेत्र के इतिहास के एक महत्वपूर्ण युग के बारे में प्रत्यक्ष जानकारी हुई। उन्होंने राजाश्रय छोड़कर एक आश्रयदाता अलकदत्त की प्रेरणा से यह ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया।[6] कल्हण एक स्वतंत्र विचारक तथा इतिहासकार थे इसलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ में नरेश सुस्सल तथा जयसिंह की त्रुटियों का भी उल्लेख किया है।

राजतरंगिणी जैसी ऐतिहासिक कृति की रचना कश्मीर में ही क्यों हुई, इससे सम्बन्धित अनेक कारण हैं। यह संकेतित है कि कश्मीर ही एकमात्र स्थान था जहाँ ऐतिहासिक लेखन की परंपरा थी। कश्मीर घाटी भौगोलिक दृष्टि से कुछ पृथक्कृत थी परिणामस्वरूप इस कारक ने वहाँ के लोगों में कुछ नवीन विशेषताएँ प्रदान की थीं। कश्मीरी

लोगों ने क्षेत्रीयता की चेतना के साथ अपने इतिहास में रुचि उत्पन्न की। कश्मीर घाटी में बौद्ध धर्म का प्रभाव भी एक अन्य कारण है क्योंकि सनातन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म में ऐतिहासिक चेतना अधिक थी। चीन तथा मध्य एशिया की सभ्यताओं से बौद्धिक तथा सांस्कृतिक संपर्क के कारण भी इस क्षेत्र में बढावा मिला होगा क्योंकि इन क्षेत्रों में इतिहास लेखन की परंपरा थी। किन्तु यहाँ द्रष्टव्य है कि कल्हण ने जिस कालखण्ड (800–1200 ई.) पर लिखा है उस काल में सम्पूर्ण भारत में क्षेत्रीयता की भावनाएँ अधिक बलवती थीं। इस कालखण्ड में अनेक क्षेत्रीय राज्यों का उदय हुआ। स्थानीय शासकों पर अनेक गाथागीत एवं महाकाव्य लिखना प्रारंभ हुए। इसके कारण छोटे–छोटे राज्यों पर विस्तार से अतिश्योक्तिपूर्ण लिखा गया। ऐसे वातावरण में कल्हण की राजतरंगिणी जो तत्व पृथक करता है वह है उसका ऐतिहासिक बोध।

कल्हण ने अपने ग्रन्थ की रचना के लिए काव्य की विधा को अपनाया। हालाँकि उनकी रूचि अपनी रचना के रसात्मक गुण में है किन्तु इसके साथ वे इसमें ऐतिहासिक सत्य को जिस रूप में उन्होंने देखा था, का भी समन्वय करना चाहते थे। वे मनोरंजक साहित्य लिखकर न केवल अपने पाठकों को आनंद की अनुभूति कराना चाहते थे बल्कि कश्मीर पर शासन करने वाले विविध राजवंशों की पूर्ण वंशावली भी देना चाहते थे। वे काफी अशांत काल में लिख रहे थे। राजा हर्ष की मृत्यु के पश्चात् गृहयुद्ध एवं संघर्ष का काल प्रारंभ हो चुका था। ऐसे अनिश्चय एवं अव्यवस्था के वातावरण ने उन्हें अपना ऐतिहासिक ग्रन्थ लिखने के लिए प्रेरित किया।[7] अपने इतिहास के माध्यम से वे सांसारिक जीवन एवं भौतिक ऐश्वर्य की नश्वरता को प्रकट करना चाहते थे। उनकी इच्छा थी कि लोग अपने अतीत की गलतियों से सीखें। इतिहास से सीख लेने के लिए उन्होंने स्थितियों तथा घटनाओं का विश्लेषण किया। यह विश्लेषण ही उनके ग्रन्थ को अन्य ग्रन्थों की तुलना में विशिष्ट बना देता है।

कल्हण ने उन स्त्रोतों का विस्तार से उल्लेख किया है जिनका उन्होंने अपना इतिहास लिखने के लिए गहन जाँच–पड़ताल की। उन्होंने अपने से पूर्व के ग्यारह विद्वानों का उल्लेख किया है जिन्होंने राजाओं की कालक्रमानुसार सूची दी। इसके साथ ही साथ कल्हण ने उन विद्वानों की विवेचन पद्धति की कमियों का भी उल्लेख किया। उन्होंने अनुश्रुतियों, परम्पराओं तथा इस क्षेत्र पर लिखी गई प्रमुख रचनाओं जैसे नीलमत पुराण का भी उपयोग किया। उन्होंने न केवल देवालयों एवं अन्य इमारतों में उत्कीर्ण अभिलेखों बल्कि शासकों द्वारा किए गए भूमिदान (land grants) तथा धर्मादाय (endowments) से प्राप्त सूचनाएँ एकत्र कर उनका प्रयोग किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही इसका विस्तृत विवरण दिया है कि किस ग्रन्थ में क्या सामग्री मिली है।

दृग्गोचरं पूर्वसूरिग्रन्था राजकथाश्रयाः।
मम त्वेकादश गता मतं नीलमुरेरपि॥[8]

कल्हण अपनी कृति के आरंभिक भाग में लोकप्रचलित मिथकों तथा अनुश्रुतियों के ऐसे संग्रहकर्ता के रूप में हमारे समझ आते है जिनमें कोई आलोचनात्मक दृष्टि नहीं दिखती परन्तु जैसे ही वे अपने युग के निकट आते हैं उनकी आलोचनात्मक दृष्टि साफ होती जाती है। हर्ष की मृत्यु के पश्चात उन्होंने ऐसे युग का अनुभव किया जिसमें राजनीतिक अस्थिरता का वर्चस्व था। राजतरंगिणी 8 सर्गों में विभक्त है, प्रथम तीन सर्गों में 3,000 से अधिक वर्षों को शामिल किया गया है तथा यहाँ केवल राजवंशों की सूचियाँ ही दी गई है। इस युग के इतिहास के पुनर्निर्माण के लिए कल्हण ने पौराणिक स्त्रोतों, अनुश्रुतियों तथा मिथकों का उपयोग किया है। इस युग के राजाओं का महाभारत तथा रामायण के चरितनायकों से सम्बन्ध जोड़ा गया है। इसके साथ ही ऐतिहासिक परम्पराओं को बिना सोचे समझे अति प्राकृत तत्वों के साथ मिला दिया गया है। चौथे, पाँचवे तथा छठे सर्गों में कार्कोट एवं उत्पल वंशों का उल्लेख है। इन्हीं सर्गों से ऐतिहासिक वृत्त उभरना प्रारंभ होते हैं। इस काल के बारे में उनकी जानकारी ऐतिहासिक अभिलेखों के साथ-साथ बौद्ध स्त्रोतों पर निर्भर है। 7वें तथा 8वें सर्ग में लोहार राजवंश का वर्णन गिया गया है।[9]

कल्हण अपनी कृति में तिथियों के बारे में पूर्ण रूप से सुनिश्चित नही हैं। कृति के आरंभिक भाग में ऐसा इसलिए है कि उन्होंने जिस स्त्रोतों का उपयोग किया वे ऐतिहासिक नही थे। फलस्वरूप उन्हें अपने कालक्रम को कही-कही अनुपयुक्तता तथा अतिश्योक्ति की सीमा को पार करना पड़ा। कल्हण के अनुसार - 37 शासकों ने 1748 वर्ष की अवधि तक शासन किया जिनमें से एक शासक ने तो 300 वर्ष तक शासन किया। उन्होंने विक्रम पूर्व 12वीं शताब्दी से कथा प्रारम्भ की है और एक गोनन्द नामक राजा का वर्णन किया है। इसके पश्चात् बिना तिथि के 812 ई. तक के राजाओं का वर्णन किया है। अपने शेष ग्रन्थ में वे विभिन्न शासनकालों के आरंभ एवं अंत की तिथियाँ तो देते है लेकिन सम्बद्ध काल में जो प्रमुख घटनाएँ घटती है उनकी तारीखों का उल्लेख नही करते। उनका एक अन्य दोष कट्टर क्षेत्रीयता भी है। वे लगभग समस्त महत्वपूर्ण शासको जैसे मौर्य शासको को भी कश्मीर के शासक के रूप में सम्मिलित कर लेते हैं एवं कश्मीर शासको को महान कार्य यथा भारत और श्रीलंका की विजय का श्रेय भी देते है।[10]

कल्हण की उत्तरार्द्ध की रचनाएँ कही अधिक ऐतिहासिक है। 812 ई. से लेकर परवर्ती राजाओं की तिथियों का स्पष्ट रूप से उल्लेख करते हैं। यहाँ से लेकर 1150 ई. तक की घटनाएँ तिथिक्रम से दी गई हैं। इस प्रकार लगभग 2500 वर्षों का राजनीतिक इतिहास उन्होंने प्रस्तुत किया। इसमें 400 वर्षों की घटनाएँ तिथिक्रम से युक्त हैं। अन्तिम राजा का वर्णन साक्षात् दर्शक के रूप में किया गया है। वे विभिन्न शासकों को पूर्ण रूप से अच्छा अथवा बुरा चित्रित नही करते और अपने दिमाग को मुक्त रखते है। इस तरह वे अपने कर्तव्य का पूर्णरूपेण निर्वाह करते है। उन्होंने अपने आश्रयदाताओं के साथ ही साथ कश्मीरी लोगों के दुर्गुणों को भी प्रकट करने में संकोच नही किया है। उनका कथन है कि उनके समय में सैनिक तथा राजकीय कर्मचारी अवसर पाकर अपने आश्रयदाताओं को धोखा देकर शत्रुओं

से मिल जाते थे। कल्हण ने बताया है कि राजपूत अपने राजाओं को धोखा नही देते परन्तु कश्मीरी अपने आश्रयदाताओं को धोखा देने में लज्जा का अनुभव नहीं करते है।[11] वे अपने निजी ज्ञान के आधार पर शासक हर्ष के अन्तिम दिनों का दिलचस्प विवरण देते है। वे प्रमुख व्यक्तियों की वंशावली और उनका पारिवारिक इतिहास भी बताते है। वे सिक्को की ढलाई के बारे में भी विवरण देते है। कल्हण की राजतरंगिणी को कुछ परवर्ती इतिहासकारों ने आगे बढ़ाने की कोशिश की है। जौनराज (मृत्यु 1454 ई.) ने इस ग्रन्थ को शासक जैनुल आब्दीन के राज्य तक पहुँचाया है। तत्पश्चात जोनराज के शिष्य श्रीवर ने 1459–1486 ई. तक के शासकों का वर्णन किया है किन्तु इनमें से कोई भी महत्ता की दृष्टि से कल्हण के ग्रंथ की बराबरी नही कर सका।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में कल्हण ही ऐसे व्यक्ति है जिन्होंने इतिहास को इतिहास मानकर ग्रन्थ की रचना की एवं तथ्यों को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि कल्हण देश और विदेश में समान रूप से आदरणीय है। कल्हण की राजतरंगिणी एक महान वीर के क्रियाकलापो का आलेख भर न होकर उस स्थिति को समझने तथा उनकी व्याख्या करने की कोशिश थी जिसमें वे रह रहे थे।

सन्दर्भ सूची

1. आचार्य, डॉ. कपिल द्विवेदी, संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, रामनारायण लाल विजयकुमार, इलाहाबाद 2009, पृ. 597
2. राजतरंगिणी 1, 7
3. आचार्य, डॉ. कपिल द्विवेदी, पूर्वोक्त, पृ. 597
4. आचार्य, डॉ. कपिल द्विवेदी, पूर्वोक्त, पृ. 597
5. आचार्य, डॉ. कपिल द्विवेदी, पूर्वोक्त, पृ. 597
6. आचार्य, डॉ. कपिल द्विवेदी, पूर्वोक्त, पृ. 597
7. वर्मा, हरीशचन्द्र, मध्यकालीन भारत, भाग 1, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय–2015, पृ. 502
8. राजतरंगिणी 1, 14
9. वर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 505–03
10. वर्मा, हरीशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ. 503
11. आचार्य, डॉ. कपिल द्विवेदी, पूर्वोक्त, पृ. 598

सहायक प्राध्यापक (इतिहास), राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
श्रीरघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग

✦✦✦

गढ़वाली लोकसाहित्य में नाथ पंथ का योगदान

–डॉ. वीरेंद्र सिंह बर्त्वाल

अपने नैसर्गिक सौंदर्य और आध्यात्मिकता के कारण गढ़वाल क्षेत्र जगख्यात है। उत्तराखंड के इस मध्य हिमालयी क्षेत्र का अनेक कारणों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक वैशिष्ट्य के कारण इस क्षेत्र की देश-दुनिया में अलग पहचान है। गढ़वाल के समृद्ध लोकसाहित्य में यहां की सांस्कृतिक समृद्धि का प्रतिबिंबन है। उत्तराखंड के एक भाग गढ़वाल में संस्कृति की अनोखी अविरल धारा प्रवाहमान है। यहां धर्म, अध्यात्म, आस्था और श्रद्धा की जड़ें अत्यंत गहरी हैं।

सनातन धर्म के चार प्रमुख तीर्थों–बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी के साथ ही हरिद्वार के स्थित होने के कारण इस धरा का संपूर्ण विश्व में महत्त्वपूर्ण स्थान है। गढ़वाल हिमालय के पांच खंडों में से एक है, जिसका नाम केदारखंड भी था।

खंडा पंच हिमालयस्य कथिताः नेपालकूर्माचलौ।
केदारोऽथ जलंधरोऽथ रुचिरः कश्मीरसंज्ञोऽन्तिमः॥

अर्थात् पहला खंड नेपाल प्रदेश, दूसरा खंड कूर्माचल (कुमाऊं) तीसरा खंड केदारखंड (गढ़वाल), चौथा खंड जालंधर अर्थात् पंजाब का पर्वतीय भाग और पांचवां खंड कश्मीर है। इन पांचों खंडों में से केदारखंड अब गढ़वाल के नाम से विख्यात है और पुराणों में इस देश का नाम 'हिमालय' या 'केदारखंड' के नाम से पाया जाता है।[1]

इस भूमि में श्रीकृष्ण और पांडवों के श्रीचरण पड़े हैं। यह धरा शंकर भगवान की क्रीड़ास्थली एवं पार्वती का मातृगृह (मायका) रही है। महाकवि कालिदास का जन्म भी यहां हुआ बताया जाता है। अनेक ऋषि-मुनियों ने यहां कठिन तप कर ईश्वर और ज्ञान की प्राप्ति की।

गढ़वाल शब्द की व्युत्पत्ति 'गढों' के कारण हुई मानी जाती है। 'गढ़' अर्थात् छोटे-छोटे राज्य, जो बहुत समय पहले यहां अनेक संख्या में थे। पंवार वंश के राजा अजयपाल को इनके एकीकरण का श्रेय जाता है। उन्होंने इन गढ़ों को एक करने के पश्चात् एक राज्य स्थापित किया, जो गढ़वाल राज्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यह काल सोलहवीं शताब्दी का माना जाता है।

गढ़वाल राज्य की स्थापना, राजवंशावलियों एवं जनश्रुतियों के अनुसार 16वीं सदी के आरंभ में इस क्षेत्र में स्थित विभिन्न 64 सामंतीय गढ़ों के संघर्षरत होने से लाभ उठाकर,

चांदपुर गढ़ के नरेश अजयपाल ने इन सभी गढ़ों को एकीकृत करके की थी।[2]

प्रत्येक क्षेत्र अथवा लोक का अपना लोकसाहित्य होता है। लोकसाहित्य किसी भी लोक की भावनाओं का दर्पण होता है। यह लोक के हास-परिहास, हर्ष-विषाद को व्यक्त करता है। गढ़वाल का लोकसाहित्य बड़ा समृद्ध है। गढ़वाली भाषा अत्यंत प्राचीन है और इसका विशाल शब्द भंडार है। अनेकों लोकगीत, लोकगाथाएं, लोककथाएं, कविताएं, मुहावरे, लोकोक्तियां इसके साहित्य के अंग हैं, जिनमें यहां का लोकजीवन सशक्त ढंग से प्रतिबिंबित हुआ है। गढ़वाली की विशाल शब्द संपदा एवं लोकप्रियता इससे पुष्ट होती है कि अब तक अनेकों नाटक, कविताएं, कहानियां एवं पत्र-पत्रिकाएं इसमें प्रकाशित हो चुकी और हो रही हैं। लगभग सौ वर्ष पूर्व भाषा विशेषज्ञ ग्रियर्सन अपने 'भाषा सर्वेक्षण' में गढ़वाली को विख्यात विभाषा स्वीकर कर चुके हैं।

गढ़वाल का वातावरण बड़ा विषम है और यहां का जनजीवन बड़ा कठिन है। यहां आर्थिकी को लेकर तनाव-अभाव और प्रकृति के साथ मानव की घनिष्ठता यहां के लोक साहित्य में प्रतिबिंबित हुई है। यहां मंत्र और साधना साहित्य महत्वपूर्ण है, जो बौद्धकाल से आया बतलाया गया है। नाथ संप्रदाय के गुरु गोरखनाथ को गढ़वाली भाषा का पहला साहित्यकार माना गया है। इसी संप्रदाय के मत्स्येंद्रनाथ और गोरक्षनाथ ने इसके बाद इस परंपरा का निर्वहन किया। इन नाथों ने एक प्रकार से गढ़वाल के धर्म-अध्यात्म और साहित्यिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। गुरु गोरखनाथ नाथ संप्रदाय के संगठनकर्ता थे। नाथ संप्रदाय मान्य रचनाओं को गोरख संप्रदाय अथवा नाथ संप्रदाय का साहित्य कहा जाता है।

इस साहित्य के अंतर्गत सर्वप्रथम मत्स्येंद्रनाथ द्वारा रचित कई पुस्तकें नेपाल की लाइब्रेरी दरबार में सुरक्षित बताई जाती हैं। इन पुस्तकों में एक कौल ज्ञान निर्णय है।[3]

ढोल सागर में वाद्य शास्त्र की चर्चा के साथ गोरखपंथी सिद्धांतों की भी चर्चा यत्र-तत्र की गई है। संभवत: इसीलिए गढ़वाल में आवजी वादक तथा बाजगी लोग इस शास्त्र ग्रंथ को जोगेश्वरी ढोल सागर भी कहते हैं। यह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण तथ्य है कि गोरखनाथ के नाम से भी 'जोगेश्वरी साखी' नामक हस्तलिखित पोथी मिलती है।[4]

ढोल सागर की रचना कत्यूरियों के आश्रय में रहने वाले गुरु खेगदास ने की थी, इसकी भाषा कुमाउंनी, गढ़वाली, ब्रज आदि के मिले-जुले रूप से निर्मित है और तुरानी प्रतियां खस लिपि में लिखी बताई जाती हैं।[5]

ढोल सागर को गढ़वाली लोक में महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना गया है, जिसमें इस वाद्य शास्त्र की विशद् चर्चा है। ढोल का गढ़वाल में धार्मिक-आध्यात्मिक महत्त्व है। इसकी भूमिका मनोरंजन(संगीत) के साथ ही पूजा-अनुष्ठान में भी है। इसे देव वाद्य मानकर बड़ी प्रतिष्ठा प्रदान की गई है। अत: इसके शास्त्रीय विवरण को यहां का हर व्यक्ति गंभीरता के

साथ श्रवण करता है। यद्यपि की इसी भाषा विचित्र है, किंतु लोगों को वह रुचिकर लगती है। इसमें न केवल ढोल की बनावट आदि का वर्णन है, अपितु सृष्टि की उत्पत्ति और योग की भी बात कही गई है।

हमारे यहां नाथ संप्रदाय के कबीले अभी भी पर्याप्त रूप में विद्यमान हैं, जिनका पेशा गोरखवाणी का गायन ही मुख्य है। गायन में वे एकतारा और खंजीरी या डफली का प्रयोग करते हैं। गोरखवाणी के अतिरिक्त ये नाथपंथी जोगी ढोल सागर की झाड़खंडी व्यवस्था के भी जानकार होते हैं। यह झाड़खंडी परंपरा तंत्र-मंत्र प्रधान योगिक विधान है। ढोल सागर की योगगर्भित अवधारणा को देखते हुए लगता है कि इसका रचयिता अवश्य गुरु गोरखनाथ से प्रभावित हुआ है। कतिपय स्थलों पर तो ऐसा लगता है कि वह स्वयं नाथ संप्रदाय का ही सदस्य है।[6]

नाथ साहित्य का प्रयोग गढ़वाल में मंत्र-झाड़-फूंक में किया जाता रहा है, यही कारण है कि यह साहित्य यहां के पंडितों-ओझाओं के कंठ से वर्तमान तक सुरक्षित चला आ रहा है। ढोल सागर, दमौं, सागर, बैरी बिणास और उषेल ये नाथ योग साहित्य के प्रकाशित अंश हैं। इसके अप्रकाशित साहित्य में मंगावली, समैण, छिद्रावली, डैंण की रखवाली, मंत्र गोरीलकाई, पंचमुखी हनुमान, लोमड़ा का मंत्र आदि हैं।[7]

देखा जाए तो गढ़वाली साहित्य के सृजन और विकास आदि में नाथपंथ का बड़ा योगदान है। इस संप्रदाय का मंत्र साहित्य गढ़वाल में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विचित्र भाषा में रचे गए ये मंत्र यहां के लोगों को संकट से मुक्ति दिलाने में सहायक सिद्ध होते हैं।

गढ़वाल में नाथों के प्रभाव से रचे गए ढोल सागर, घट-स्थापना, इंद्रजाल, श्रीनाथ जी की सुकलैस, समैणा आदि अनेक गोरखपंथी ग्रंथ मिलते हैं। इसी काल के उखेल भेद, बैरी बिणास, सुने जर की बैदाई और छवाणों-पूजन जैसे लिखित निबंध भी उपलब्ध हैं। ये निबंध मन की उच्छृंखल स्थिति की साहित्यिक अभिव्यक्ति हैं।[8]

गढ़वाली लोकसाहित्य यूं तो बहुत पहले से ही अनवरत रूप से अनेक लोगों के कंठों के माध्यम से व्यक्त हुआ आ रहा है, किंतु इसकी श्रृंखलाबद्ध रचना 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में मानी जाती है। इस युग में गढ़वाल में प्रसिद्ध कवि मौलाराम हुए हैं। मौलाराम ने गढ़वाल राजवंश का इतिहास लिखा है। मौलाराम (1740-1833) के समय अनेक घटनाएं घटीं, जिनके वे प्रत्यक्षदर्शी थे। 1803 की गोरख्यांणी (गोरखाओं का गढ़वाल पर आक्रमण-अत्याचार) के वे प्रत्यक्षदर्शी थे। जब गढ़वाल अंग्रेजों के अधीन हो गया और टिहरी अलग राज्य बन गया, उस समय की घटनाएं उन्होंने देखी थीं। मई, 1658 में जब दाराशिकोह औरंगजेब के कोपभाजन हुए तो उन्होंने गढ़वाल में शरण ली। उन्हीं के साथ दिल्ली निवासी बनारसी दास के पुत्र शामदास और उनका पौत्र हरदास श्रीनगर आए थे।[9] वे दोनों चित्रकार थे। हरदास का पोता मौलाराम था, जो महान कवि, चित्रकार और काली भक्त हुआ।[10]

मौलाराम के बाद गढ़वाली लोकसाहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा जाने लगा। विशेष रूप से अंग्रेजी शासन के बाद यहां साहित्य सृजन में विशेष क्रांति आई। भारत में तब अंग्रेजी पढ़े-लिखे गढ़वालियों में अपने अंचल के विकास के लिए ललक उठने लगी। उस काल में जो कार्य भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र में वाराणसी में किया, वही कार्य अंग्रेजी पढ़े-लिखे और हिंदी प्रेमी गढ़वाली गढ़वाल में कर रहे थे। उस कालखंड में गढ़वाल में अनेकों कवियों और लेखकों ने गढ़वाली के साथ ही हिंदी में भी अच्छे स्तर का लेखन किया और यह कार्य अबाध गति से बढ़ता गया। सर्वश्री गोविंद प्रसाद घिल्डियाल, हरिकृष्ण रतूड़ी, सदानंद कुकरेती, डॉ.पीतांबर दत्त बड़थ्वाल, भवानी दत्त थपलियाल, ईश्वरी दत्त घिल्डियाल, चंद्रकुंवर बर्त्वाल, परमेश्वरानंद घिल्डियाल, डॉ. बलदेव नौटियाल, देवी प्रसाद घिल्डियाल और मुकुंदी लाल जैसे ख्यात साहित्यकार उस कालखंड में हुए हैं।

साहित्य सृजन की यह धारा तब से और वेगवती हुई और इसने और व्यापक रूप लिया। परिणामस्वरूप गढ़वाल में अब साहित्यकारों का विशाल संसार अस्तित्व में आ चुका है। डॉ. गोविंद चातक, मोहनलाल बाबुलकर, डॉ. शिवानंद नौटियाल, डॉ. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', कन्हैया लाल डंडरियाल, भजन सिंह 'सिंह', अबोधबंधु बहुगुणा, लीलाधर जगूड़ी, भगवती प्रसाद नौटियाल, जीवानंद श्रीयाल, गोकुलानंद किमोठी जैसे स्वनामधन्य सहित्यकारों को जन्म देने वाली इस पुण्य धरा पर वर्तमान में रमेश पोखरियाल 'निज़ंक', शांति प्रकाश 'जिज्ञासु', डॉ. अचलानंद जखमोला, मनोहर चमोली 'मनु', डॉ. सरला चंदोला, डॉ. रणवीर सिंह चौहान, डॉ. दिनेश चमोला 'शैलेश', संदीप रावत, रमाकांत बेंजवाल, बीना बेंजवाल, दीपक कैंतुरा, मदन डुकलान, रवि कैंतुरा आदि साहित्य की पुण्य सलिला बहा रहे हैं।

डॉ. चातक ने 'गढ़वाली लोकगाथाएं', 'भारतीय लोक संस्कृति का संदर्भ: मध्य हिमालय', मोहनलाल बाबुलकर ने 'गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन', डॉ. 'शैलेष' ने 'गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य', डॉ. नौटियाल ने 'गढ़वाल के लोकनृत्य गीत', अबोधबंधु बहुगुणा ने 'धुयांल' और 'भूम्याल', संदीप रावत ने 'गढ़वाळि भाषा अर साहित्य की विकास जात्रा', डॉ. सरला चंदोला ने 'उत्तराखंड का लोकसाहित्य और जनजीवन', डॉ. रणवीर सिंह चौहान ने 'उत्तराखंड के वीर भड़' जैसी कालजयी कृतियों का सृजन कर गढ़वाली लोकसाहित्य की समृद्धि और संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

गढ़वाली लोकसाहित्य के विकास में यहां के लोकगीतों ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। सूचना तकनीक और मनोरंजन के साधनों में विकास के कारण पहाड़ के गीत मैदानी शहरों तथा सात समुद्र पास तक पहुंचे। परिणामस्वरूप, गढ़वाल का सांस्कृतिक स्वरूप अधिसंख्य जनों के मध्य उपस्थित हो पाया।

इधर, गढ़वाली लोकसाहित्य के अभिन्न और महत्त्वपूर्ण अंग गीत और जागरों की भी कुछ वर्षों में त्वरित धारा बही है। नब्बे के दशक से गढ़वाल के जागरों-गीतों के गायन में एक क्रांति सी आई है। पहले ऑडियो कैसेट, फिर सीडी-डीवीडी और पेन ड्राइव आदि

जैसे माध्यमों से इन विधाओं को देश-दुनिया में प्रचारित-प्रसारित होने में सहायता मिली। नरेंद्र सिंह नेगी ने गढ़वाली लोकगीतों के गायन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।.....नरेंद्र सिंह नेगी के बाद गढ़वाल के लोकगीत गायन और जागर गायन में प्रीतम भरतवाण ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।[11]

श्री नेगी और श्री भरतवाण से पहले भी गढ़वाली गीतों का गायन हुआ, किंतु इस त्वरित और व्यापक स्तर पर नहीं। बहुत पहले के दौर में शिवप्रसाद पोखरियाल, घनश्याम 'सैलानी', जीत सिंह नेगी, किशन सिंह पंवार, चंद्र सिंह राही, रमेश बगियाल, नत्थी लाल नौटियाल, जगदीश बकरोला हुए, जबकि वर्तमान में इस रससिक्त परंपरा को साहब सिंह रमोला, ओम बधाणी, मंगलेश डंगवाल, किशन महिपाल आदि गायक लोकगायक आगे बढ़ा रहे हैं।

सारांशत: कहा जा सकता है कि गढ़वाली लोकसाहित्य स्वयं में समृद्ध और प्रभावी है। आरंभिक काल में इसके विकास और संरक्षण में नाथ पंथ ने बड़ी भूमिका निभाई। आज भी इस संप्रदाय के मंत्र गढ़वाली लोक में विद्यमान हैं और उनका उपयोग किया जाता है। गढ़वाली लोकसाहित्य में यहां के लोक के समस्त मानवी भाव प्रतिबिंबित हुए हैं, क्योंकि लोकसाहित्य यथार्थ और आदर्शवाद का मनोहारी समन्वयक होता है। वह सच्चा लोक प्रतिनिधि जनकाव्य होता है, जो लोक के जनजीवन की आशा-निराशा, कष्ट-आनंद, हर्ष-विषाद, हास-परिहास, सुख-दु:ख आदि भावनाओं का चित्रण करता है। गढ़वाली लोकोक्तियों, कहानियों, कविताओं, लोकगीतों आदि में ये समस्त मानवी भाव सुंदर ढंग से चित्रित हुए हैं। इन विधाओं में न केवल गढ़वाल की प्रकृति के विविध रूप प्रकट हुए हैं, अपितु यहां के रहन-सहन और यहां के लोगों के जीवन संबंधी समस्याओं और आनंद की सहज अभिव्यक्ति हुई है। इन विधाओं में मानव जीवन के वे समस्त भाव दृष्टिपथ में आते हैं, जो उसके जीवन में बचपन से लेकर वृद्धावस्था तक उत्पन्न होते हैं।

सन्दर्भ

1. पं. हरिकृष्ण रतूड़ी : गढ़वाल का इतिहास, पृ.-1 (संपादक-डॉ. यशवंत सिंह कठोच)
2. डॉ. संतन सिंह नेगी : गढ़वाल और गढ़वाल (गोरखा आक्रमणकालीन गढ़वाल), पृ.-18
3. डॉ. विष्णुदत्त कुकरेती, नाथपंथ : गढ़वाल के परिप्रेक्ष्य में, पृ.-164
4. डॉ. बड़थ्वाल, हिंदी-काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृ.-71 (फुटनोट)
5. डॉ. गोविंद चातक, भारतीय लोक संस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ.-102
6. केशव अनुरागी, गोरखपंथ के परिप्रेक्ष्य में ढोल-सागर (गढ़वाल और गढ़वाल, सं. चंद्रपाल सिंह रावत, पृ.-230)
7. डॉ. शांति प्रसाद चंदोला, नाथ पंथ, पृ.-198

8. अबोध बंधु बहुगुणा, गढ़वाली साहित्य की परंपरा (गढ़वाल और गढ़वाल, सं. चंद्रपाल सिंह रावत, पृ.–181)
9. राहुल सांस्कृत्यायन, हिमालय परिचय, पृ.–133
10. डॉ. शिवानंद नौटियाल, गढ़वाल के लोकनृत्य गीत, पृ.–28 (भूमिका भाग)
11. डॉ. वीरेंद्र सिंह बर्त्वाल, गढ़वाली गाथाओं में लोक और देवता, पृ.–26

(सहायकाचार्य, हिन्दी, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग उत्तराखंड)

✦✦✦

ग्रीन कंप्यूटिंग : पर्यावरण के संदर्भ में

–पंकज कोटियाल

सार

ग्रीन कंप्यूटिंग हमारे पर्यावरण के लिहाज से बहुत फायदेमंद हैं। इसका उपयोग कर हम न केवल पर्यावरण की रक्षा कर सकते हैं, अपितु ऊर्जा की भी बचत कर सकते हैं। ग्रीन कंप्यूटिंग को हरित प्रौद्योगिकी भी कहा जाता है। इसके तहत आने वाले स्थायी संसाधनों–मॉनिटर, प्रिंटर, स्टोरेज डिवाइस, नेटवर्किंग और संचार प्रणालियों का उपयोग पर्यावरण के लिए स्थायी रूप से अनुकूल माना गया है, इसका पर्यावरण पर कोई भी विपरीत प्रभाव नहीं पड़ता है। ग्रीन कंप्यूटिंग का लक्ष्य नुकसानदायक सामग्रियों के उपयोग को कम करना, उत्पाद के जीवनकाल के दौरान ऊर्जा दक्षता को अधिकतम करना और निहित उत्पादों और फैक्ट्री कचरे के पुनर्चक्रण (Recyclability) या पारिस्थिकीय ह्रास (byodegradability) को बढ़ावा देना है।

आज कंप्यूटर केवल कार्यालयों में ही नहीं, बल्कि घरों में भी इस्तेमाल किया जाता है। जैसे इसकी उपयोगिता और संख्या दिन–ब–दिन बढ़ती जा रही है, वैसे ही उससे खपत होने वाली बिजली वायुमंडल में कार्बन सामग्री की मात्रा को बढ़ा रही है। लोगों ने इसे अनुभव किया है। अतः ऐसे उपाय अपनाए जा रहे हैं, जो जो कंप्यूटर के उपयोग को कम करने में मदद करते हैं। इन्हीं उपायों को ग्रीन कंप्यूटिंग कहा जा सकता है। इसके तहत ऐसी तकनीक का सहारा लिया जाता है, जो ऊर्जा के उपयोग से होने वाले कार्बन डाइऑक्साइड उत्सर्जन में कमी लाती है। ग्रीन कंप्यूटिंग में रिसाइक्लिंग को प्रोत्साहित करने और व्यक्तियों और व्यवसायों द्वारा ऊर्जा उपयोग को कम करने के लिए सरकारी नीति बदलना भी शामिल है।

की वर्ड :

ग्रीन कंप्यूटिंग, इलेक्ट्रॉनिक अपशिष्ट, एनर्जी स्टार, पृथ्वी की रक्षा, रिसाइक्लिंग।

प्रस्तावना :

ग्रीन कंप्यूटिंग, कुशल और पर्यावरण अनुकूल कंप्यूटिंग, संसाधनों का अध्ययन और अभ्यास न केवल पर्यावरण संगठनों के ध्यान में है, बल्कि कई उद्योगों का व्यवसाय भी बन गया है। हाल के वर्षों में कम्प्यूटर उद्योग में कंपनियों ने महसूस किया है कि ग्रीन कंप्यूटिंग

जनसंपर्क और कम लागत के मामले में अपने सर्वोत्तम हित में है। 1992 में यू.एस. एनवायरनमेंटल प्रोटेक्शन एजेंसी ने एनर्जी स्टार को एक स्वैच्छिक लेबलिंग प्रोग्राम लॉन्च किया था, जिसका कार्य जलवायु नियंत्रण उपकरण और अन्य प्रौद्योगिकियों पर नजर रखना है। यह ऊर्जा दक्षता को बढ़ावा देने और पहचानने के लिए डिजाइन किया गया था।

ग्रीन कंप्यूटिंग को विनिर्माण इंजीनियरिंग डिजाइनिंग के उपयोग के रूप में परिभाषित किया जाता है। यह कंप्यूटिंग कंप्यूटिंग उपकरणों का उपयोग और अनुपयोगी उपकरणों का निस्तारण ऐसे तरीके से करती है, जिससे उनके कारण काफी हद तक पर्यावरणीय क्षति नहीं हो पाती। कई आईटी निर्माता और विक्रेता लगातार ऊर्जा कुशल कंप्यूटिंग उपकरणों को डिजाइन करने, खतरनाक सामग्रियों के उपयोग को कम करने और डिजिटल उपकरणों और कागज के रिसाइक्लिंग को प्रोत्साहित करने में निवेश कर रहे हैं। ग्रीन कंप्यूटिंग 1992 में आरंभ हुई, जब पर्यावरण संरक्षण एजेंसी (ईपीए) ने एनर्जी स्टार कार्यक्रम शुरू किया था।

ग्रीन कंप्यूटिंग क्यों?

आज लगभग सभी धाराओं–आईटी, चिकित्सा, परिवहन, कृषि में मशीनों का उपयोग किया जाता है, जिसके लिए बड़ी मात्रा में शक्ति और धन की आवश्यकता होती है। हमारे कार्यों को पूरा करने के लिए हमारे पास विशाल मशीन और उपकरण हैं, जो हमारी जिंदगी को अधिक प्रभावशाली बनाते हैं। ग्रीन कंप्यूटिंग का लक्ष्य पर्यावरण के लिए नुकसानदायक सामग्रियों के उपयोग को कम करना है। यह उत्पाद के जीवनकाल के दौरान ऊर्जा दक्षता को अधिकतम करती है और निहित उत्पादों और फैक्ट्री कचरे के पुनर्चक्रण या पारिस्थितिकीय ह्रास को कम करती है। इसलिए निम्नलिखित लाभों के लिए ग्रीन कंप्यूटिंग का उपयोग किया जाता है –

- एनर्जी स्टार योग्य उत्पादों का उपयोग ऊर्जा संरक्षण में किया जाता है।
- हरित उत्पादों को चुनने के लिए जलवायु सुरक्षा कंप्यूटिंग इनिशिएटिव (सीएससीआई) कैटलॉग का इस्तेमाल किया जा सकता है।
- नियमित मॉनिटर के बजाय कार्बनिक प्रकाश उत्सर्जक डायोड (एलईडी) का उपयोग किया जाना चाहिए
- आवश्यकता न होने पर कंप्यूटर या अन्य इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों को बंद कर देना चाहिए, ताकि वे बिजली की खपत न करें।
- जरूरतमंद व्यक्ति को अपने लिए अनुपयोगी इलेक्ट्रॉनिक उपकरण दे दिए जाएं, ताकि ई–अपशिष्ट में वृद्धि न हो। कंप्यूटर और इसके सामान के समुचित निस्तारण के जरिए पर्यावरण प्रदूषण को कम करना संभव है।
- उम्मीद थी कि कंप्यूटर कागज अपव्यय को कम करने में मदद करेगा, लेकिन यह

अपेक्षा बहुत हद तक पूरी नहीं हो पाई। इसलिए आज भी उद्योगों में कागज का अपव्यय एक गंभीर मुद्दा है। फोटोकॉपीयर और प्रिंटर की आसान उपलब्धता के कारण कागज अपव्यय होता है।

- डिवाइस का उपयोग केवल तभी करें, जब यह आवश्यक हो।
- वीडियो गेम के लिए आवश्यक डिस्कस और बक्से के निर्माण में बहुत अधिक संसाधन होते हैं। वीडियो गेम निर्माता डाउनलोड करने के लिए अपने गेम्स ऑनलाइन उपलब्ध करा सकते हैं, जिससे ई-कचरे में कमी आ सकती है। यह परिवहन शिपिंग लागत पर कटौती कर सकता है।
- स्थानीय कूलिंग सॉफ्टवेयर का उपयोग इसकी निगरानी में मदद कर सकता है। इससे कंप्यूटर द्वारा खपत ऊर्जा कम हो सकती है। यह विंडोज प्रोग्राम कंप्यूटर के पावर विकल्पों में समायोजन करता है और ऊर्जा खपत को कम करने में मदद करता है।

डेटा सेंटर, जिनकी असाधारण उच्च ऊर्जा मांग के लिए आलोचना की गई है, ग्रीन कंप्यूटिंग के समर्थकों के लिए एक प्राथमिक ध्यान है। डाटा सेंटर संभावित रूप से भंडारण समेकन और वर्चुअलाइजेशन जैसी तकनीकों के माध्यम से अपनी ऊर्जा और स्थान की दक्षता में सुधार कर सकते हैं। कई संगठन अंडरलाइन सर्वरों को समाप्त कर रहे हैं, जो कम ऊर्जा के उपयोग के परिणामस्वरूप है। यूएस संघीय सरकार ने 2011 तक डेटा सेंटर के ऊर्जा उपयोग के लिए न्यूनतम 10 प्रतिशत कमी का लक्ष्य निर्धारित किया है। एक ऑटोमैटिक अल्ट्राएसिफिक बाष्पीकरणीय शीतलन तकनीक की सहायता से गूगल अपनी ऊर्जा खपत को उस उद्योग के 50 प्रतिशत औसत तक कम कर सकता है।

सामग्री प्रबंधन

Restriction of Hazardous Substances (Ro.H. S.) : फरवरी, 2003 में यूरोपीय संघ ने अर्थात् हानिकारक पदार्थों पर प्रतिबंध (Ro.H. S.)नामक कानून को अपनाया, जो विभिन्न प्रकार के इलेक्ट्रॉनिक और विद्युत उपकरणों के निर्माण के तहत छह खतरनाक सामग्रियों के उपयोग को प्रतिबंधित करता है। निदेशालय ने Waste Elecritical and Electronic Equipment Directive(WEEE) के साथ मिलकर बिजली के सामानों एवं रिसाइक्लिंग से जुड़े हुए विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डालकर नियम बनाए, जिसका उद्देश्य विषाक्त ई-कचरे की बड़ी मात्रा को कम करना था। 2001 में, उन्होंने सीसा रहित विनिर्माण पर ध्यान केंद्रित किया, पावर कुशल वीआईए प्रोसेसर के लिए Enhanced Ball Gride Array (EBGA) पैकेज को पेश किया और उनके चिपसेट के लिए Heat Sink Ball Gride Array (HSPGA) को पेज़ किया।

ऊर्जा कुशल कंप्यूटिंग :

एक उन्नत उद्योग मानक Advanced Configuration and Power Interface (ACPI), ऑपरेटिंग सिस्टम को अपने अंतर्निहित हार्डवेयर के पावर-सेविंग पहलुओं को सीधे नियंत्रित करने की अनुमति देता है। यह एक सिस्टम को स्वचालित रूप से घटकों जैसे कि मॉनिटर और हार्ड ड्राइव की निष्क्रियता की निर्धारित अवधि के बाद बंद कर देता है। इसके अतिरिक्त, एक सिस्टम हाइबरनेट हो सकता है, जहां ज्यादातर घटक (सीपीयू और सिस्टम रैम सहित) बंद हो जाते हैं। एसीपीआई एक पूर्ववर्ती इंटेल-माइक्रोसॉफ्ट मानक का उत्तराधिकारी है, जिसे उन्नत पावर मैनेजमेंट कहा जाता है, जो कंप्यूटर के BIOS को पावर प्रबंधन कार्यों को नियंत्रित करने की अनुमति देता है।

कुछ प्रोग्राम उपयोगकर्ता को सीपीयू के लिए दिए गए वोल्ट्स को मैन्युअल रूप से समायोजित करने की इजाजत देते हैं, जो कि गर्मी की मात्रा और बिजली के उपभोग दोनों को कम कर देता है। इस प्रक्रिया को अवमूल्यन कहा जाता है। वर्कलोड पर निर्भर करते हुए कुछ सीपीयू, प्रोसेसर को स्वचालित रूप से undervolt कर सकता है। इस तकनीक को इंटेल प्रोसेसर पर स्पीड स्टेप, पावरनोव/कूल एएमडी चिप्स पर कंटेंट, वीआईए सीपीयू पर लांगहेउल और ट्रांसमेटा प्रोसेसर के साथ लोंगरन कहा जाता है।

- आईटी उपयोगकर्ताओं के रूप में हम आईटी उपकरण को बुद्धिमानी से संचालित करके पर्यावरण की रक्षा के लिए अपना प्रयास भी कर सकते हैं। हमने इस संदर्भ में विभिन्न स्रोतों से निम्न जानकारी एकत्र की है-
- अपने कंप्यूटर को लंबे समय तक न चलने न दें अर्थात् उसे आराम भी दें।
- प्रिंटर को तब तक चालू न करें, जब तक आप ने प्रिंट न दिया हो। अगर प्रिंटर ऑन है तो वह ऊर्जा का बहुत व्यय करता है।
- आवश्यकतानुसार ही ई-मेल की प्रतियों का प्रिंट निकालें।
- काम करते समय जितना संभव हो, अपने कंप्यूटर की स्क्रीन की ब्राइटनेस कम रखें, ताकि ऊर्जा की खपत कम से कम हो।
- अब अधिकांश कंप्यूटरों के अंदर ऐसे उपकरण हैं, जिनके इस्तेमाल से ऊर्जा का इस्तेमाल कम से कम किया जा सकता है। आप इनका उपयोग कर सकते हैं।
- कोई भी स्क्रीन सेवर हो, उसका उपयोग ऊर्जा की बेवजह खपत करता है, अत: स्क्रीन सेवर का उपयोग न करें।
- आईटी क्षेत्र में ई-मेल और फैक्स-मॉडेम जैसी कागज रहित तरीकों का उपयोग करें
- प्रिंट करने से पहले अपनी सामग्री का गहनता से अध्ययन कर स्क्रीन पर ही उसकी गलतियां दुरुस्त कर दें, ताकि प्रिंट देने के बाद करक्शन की गुंजाइश न

रहे।

- प्रिंट जहां तक संभव हो कागज के दोनों तरु निकालें।
- हमेशा रिसाइक्लिड पेपर का उपयोग करें।
- जितना बड़ा मॉनीटर हो, उतनी ही अधिक ऊर्जा की खपत करता है। इसलिए जरूरत के अनुसार मॉनीटर के साइज का ही उपयोग करें। शौक में देखादेखी कर बड़ा मॉनीटर लेना समझदारी का काम नहीं है। याद रहे 17 इंच का मॉनीटर 14 इंच की मॉनीटर की तुलना में 40 प्रतिशत अधिक ऊर्जा का उपयोग करता है तथा उच्च स्क्रीन रिज्योल्यूशन को अधिक ऊर्जा की आवश्यकता होती है।
- इंक जेट प्रिंटर हालांकि लेजर प्रिंटर की तुलना में थोड़ी धीमी गति के होते हैं, लेकिन 80 से 90 प्रतिशत कम ऊर्जा का उपयोग करते हैं।
- अपने कंप्यूटर विक्रेता से रिसाइकिल्ड की जाने वाली पैकेजिंग का अनुरोध करें।
- वेजिटेबल इंक या गैरपेट्रोलियम आधारित स्याही ही खरीदें। ऐसी स्याही के लिए कम खतरनाक सॉल्वेंट्स की आवश्यकता होती है।

रिसाइक्लिंग:

कंप्यूटर हार्डवेयर के निर्माण में प्रयुक्त कई सामग्रियां भविष्य के उत्पादन में उपयोग के लिए रिसाइक्लिंग प्रक्रिया में पुनर्प्राप्त की जा सकती हैं। टिन, सिलिकॉन, लोहा, एल्यूमीनियम और विभिन्न प्रकार के प्लास्टिक का पुन: उपयोग कंप्यूटर में बल्क में उपस्थित सभी - नई प्रणालियों के निर्माण की लागतों को कम कर सकते हैं। ऑडियो-विजुअल घटकों (टीवी, वीसीआर, स्टीरियो उपकरण) के साथ ही मोबाइल फोन, कंप्यूटर घटक आदि उपकरणों में तांबे और सोने का उपयोग अच्छा होता है। रिसाक्लिंग की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि कंप्यूटर के अनुपयोगी होने के कारण ये सभी धातुएं उपयोग में आ जाती हैं।

- दूरसंचार, ई-ट्रांजिक्शन, ई-काम, टेलीवर्क, घर पर काम (डब्ल्यूएएच), या घर से काम करने वाली (डब्लूएफएच) टेलीकम्युनिकेटिंग एक ऐसी कार्य व्यवस्था है, जिसमें कर्मचारी तनाव रहित काम करते हैं। वे इस व्यवस्था में ऑफिस की अपेक्षा अधिक रुचि से काम करते हैं। इसमें वर्चुअल प्राइवेट नेटवर्क, वीडियोकॉन्फरेंसिंग, और वॉयस ओवर आईपी की मदद ली जाती है।
- इंटरनेट पर वॉयस इंटरनेट प्रोटोकॉल (वीओआईपी) इंटरनेट या अन्य पैकेट स्विच्ड नेटवर्क पर आवाज संचार के वितरण के लिए संचरण तकनीकों के परिवार के लिए एक सामान्य शब्द है। टेलीफोन वायरी में कमी जाहिर है कि आवाज-ओवर-इंटरनेट प्रोटोकॉल की वजह से लागत में कमी आएगी। आईओपी पर आवाज (वीओआईपी) मौजूदा ईथरनेट तांबे को साझा करके टेलिफोनी वायरिंग इन्फ्रास्ट्रक्चर

को कम कर देता है। इस प्रकार मेटल कचरे के इस्तेमाल को कम करता है। वीओआईपी और फोन एक्सटेंशन गतिशीलता ने भी हॉट-डेस्किंग और अधिक व्यावहारिक बनाया है।

ग्रीन कंप्यूटिंग के हालिया कार्यान्वयनः

–Blackle:

यह एक सर्च इंजन साइट है, जो गूगल द्वारा संचालित है। ब्लैकले इस अवधारणा के आधार पर अस्तित्व में आया कि जब कंप्यूटर स्क्रीन सफेद होती है तो खाली शब्द या गूगल होम पेश करते हुए आपका कंप्यूटर 74 वॉट का उपभोग करता है, जब स्क्रीन काली हो जाती है तो यह केवल 59 वॉट का उपभोग करता है। इस सिद्धांत पर आधारित यदि हर कोई गूगल से ब्लैकले को स्विच करता है तो धरती हर साल 750 मेगावाट बिजली बचाए जा सकती है। यह ग्रीन कंप्यूटिंग का वास्तव में बेहतरीन कार्यान्वयन था। ब्लैक ले के पीछे के सिद्धांत इस तथ्य पर आधारित हैं कि विभिन्न रंगों के प्रदर्शन से कंप्यूटर मॉनिटर पर विभिन्न मात्रा में ऊर्जा की खपत होती है।

- Fit-PC : एक ऐसा छोटा पीसी है जो केवल 5 वाट ऊर्जा खींचता है। यह पेपरबैक आकार का है, फिर भी वह विंडोज एक्सपी या लाइनेक्स चलाने के लिए पर्याप्त है। फिट-पीसी फिट करने के लिए डिजाइन किया गया है, जहां मानक पीसी बहुत भारी होते हैं, वे शोर करते हैं और ऊर्जा की अधिक खपत करते हैं। यदि आप कभी भी पीसी के लिए कॉम्पैक्ट, तेज और वातावरण के लिए उपयोगी होने की कामना करते हैं तो पीसी आपके लिए एकदम उपयुक्त है। फिट-पीसी 1 घंटे में पारंपरिक पीसी की तुलना में बिजली की कम खपत करते हैं।
- जोनबू (Zonbu) यह एक नया और बहुत ऊर्जा कुशल पीसी है। यह एक हाई पावर प्रकाश बल्ब की शक्ति की सिर्फ एक तिहाई बिजली की खपत करता है। यह डिवाइस एक 1.2 गीगाहट्र्ज प्रोसेसर और 512 मेगा रैम का उपयोग कर लाइनेक्स ऑपरेटिंग सिस्टम चलाता है।

निष्कर्ष :

कंप्यूटर के अनुप्रयोगों की कार्यक्षमता और विस्तार होने के कारण इसके लिए आवश्यक ऊर्जा की कमी के बारे में हमारा जागरूक होना आवज़्यक है। कंप्यूटिंग विकास लोगों के लिए हितकारी बन सकता है। कंप्यूटर के बढ़ते प्रचलन और उपयोग के इस दौर में इसके साइड इफेक्ट्स पर विचार करना आवश्यक है। इस संदर्भ में सबसे पहले इससे होने वाले पर्यावरणी नुकसान पर ध्यान केंद्रित किया जाना अच्छी बात है। पर्यावरणीय मित्र बनाकर इसका उपयोग करने, शट डाउन या स्लीपिंग मोड जैसी विधियों को अपनाने तथा

इसमें कम बिजली प्रौद्योगिकी अपनाने से यह हमारे लिए और भी हितकारी हो सकता है। लगभग दो दशक पहले के ऑटोमोबाइल के बारे में सोचें तो हम पाते हैं कि उनमें आज की तुलना में अधिक तेल की खपत होती थी, पर मशीनरी में विकास के कारण आज स्थित ऐसी नहीं है। इसी प्रकार कंप्यूटरों में भी आज ऐसी तकनीक आ चुकी है कि वे कम पहले की तुलना में कम बिजली उपभोग करते हैं। इस स्थिति में अभी और सुधार की गुंजाइश है। यही नहीं, हम स्वयं प्रबंधन कर भी कंप्यूटर को अधिक बिजली का उपभोग करने से रोक सकत हैं।

(सहायक आचार्य, कम्प्यूटर, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
श्रीरघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग, उत्तराखण्ड)

✦✦✦

पुराण एवं अन्य ग्रन्थों में इतिहास

-डॉ. शैलेन्द्रनारायण कोटियाल

इतिहास शब्द का अर्थ निरुक्तकार यास्क ने इस प्रकार किया है। इति+ह+आस। इति अर्थात् इस प्रकार, ह-निश्चय ही, आस-था। इस प्रकार पूर्व मे घटित सच्ची घटनाओं का उल्लेख इतिहास है। इतिहास एक महत्त्वपूर्ण विषय है। किसी समाज सम्यता की पूर्वघटित घटनाओं का ज्ञान उसके लिए अतीव प्रेरणादायक और उसकी सामाजिक जागरूकता का प्रतीक है। भारतीय इतिहास की क्रमबद्ध जानकारी प्रदान करने वाला कोई निश्चित ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यत्र-तत्र अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन पुस्तकों में यह फैला हुआ है।

प्राचीन भारत का इतिहास भारत की तत्कालिक भाषा संस्कृत के ग्रन्थों में प्रसङ्गवश उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम यह वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। भारतीय इतिहास को समझने के लिए हमे प्राचीन साहित्यिक एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों को समझना होगा।

साहित्यिक ग्रन्थों में समस्त वैदिक साहित्य का है कुछ उपनिषदों जैसे तैत्तरीय, शतपथ, ऐतरेय तथा ब्राह्मण ग्रन्थों छान्दोग्य और बृहदारण्यक प्रमृति उपनिषदों में अनेक ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं। इसी प्रकार बौद्ध एवं जैन साहित्य में भी इतिहास की सामग्री मिलती है। अन्य साहित्यिक ग्रन्थ जैसे पाणिनी की अष्टाध्यायी, पतञ्जलि का महाभाष्य और महाकवि कालिदास के ग्रन्थ भी ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करते है। दुसरी ओर प्राचीन भारत के ऐतिहासिक ग्रन्थ रामायण एवं महाभारत भी अनेक इतिवृत्तो से भरे पड़े हैं। इनमें तत्कालीन भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन का चित्रण पाया जाता है।

पुराण-ग्रन्थों मे भी कई ऐतिहासिक घटनाओं का तथा राजवंशो का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णु पुराण 4/23 में माग धानां बार्हद्रथानां भाविनामनुक्रमं कथयिस्याति आदि गद्यों मे मगधवंश के होने वाले अनेक राजाओं की वंशावदी का वर्णन किया गया है। इस प्रकार विष्णुपुराण 4/24 में मौर्य राजाओं का वर्णन विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है।

महापद्मपुत्राश्चैकं वर्षशतकभवनीपतयो भविष्यन्ति।
ततश्च नव चैतन्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मण समुद्धरिष्यति।
तेषाममात्रे मौर्याः पृथिवी मोक्ष्यन्ति।
कौटिल्य एव चन्द्र गुप्तमुत्पन्नं राज्येऽभिषेदमति॥ (4/24/25-28)

प्राचीन भारत के इतिहास से सम्बन्धित प्रायः अधिकाशं ग्रन्थ संस्कृत भाषा में ही उपनिबद्ध है। यही ग्रन्थ इतिहास के मुख्य स्त्रोत है। संस्कृत भाषा का इन ऐतिहासिक के

घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रकट करता है। प्राचीन ग्रन्थों में कहीं कहीं इतिहास और पुराण को अभिन्न मानते हुये उसे पंचम वेद कहा गया है।

ऋग्वेदं भगवोध्येमि यजुर्वेदं सामवेद-
मथर्वणमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्। (छान्दो. 7/1)

किन्तु शङ्कराचार्य इतिहास एवं पुराण दोनों को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते है। उन्होंने अपने छान्दोग्योपनिषद् भास्य मे स्पष्ट किया है कि शतपथ ब्राह्म में जो पुरुरवा और उर्वशी का संवाद उर्वशी हाप्सरा: पुरुरवसमैढ चकमे आदि है वह कथन इतिहास के अन्तर्गत आता है। तथा असद् वा इसमग्र आसीत् इत्यादि सृष्टि का वर्णन पुराण है। सायणाचार्य भी ऐतरेय ब्राह्मण के उपक्रम में शंकराचार्य के मतानुसार इतिहास-पुराण के विषय में लिखते हैं।

पुराण तथा इतिहास इन दोनों पर गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है। कि कभी मे दोनों पृथक्-पृथक् दिखायी देते है। और कभी एक दूसरे के वाचक प्रतीत होते हैं। महाभारत को इतिहास ग्रन्थ माना गया है। किन्तु वह अपने लिए कभी इतिहास और कभी पुराण शब्द का प्रयोग करता है।

द्वैपायनेन यत्प्रोक्तं पुराणं परमर्षिणा। (महा. 1/7/17)

तथा

जयनामेतिहासोऽयम्। (महा.आदि. 62/20)

इयं यो ब्राह्मणो विद्वान् इतिहासं पुरातनम्। (वायु. 103/48)

आधुनिक इतिहासकारों का मानना है कि पुराणों को पुराण ही कहा जाना चाहिये तथा यथार्थ घटनाओं के उल्लेख कर पाने वाले ग्रन्थों को इतिहास कहना चाहिये। इस प्रकार वर्तमान में इतिहास और पुराण को भिन्न-भिन्न माना जाता है। संस्कृत साहित्य में कतिपय ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें प्रचुर मात्रा में ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है। उस ग्रन्थो में बाणभट्ट का हर्षचरितम्, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरितम्, परिमलगुप्त का नवसाहसांकचरितम्, कल्हण की राजतरङ्गिणी।

राजतरङ्गिणी एक इतिहास ग्रन्थ है। कश्मीर के राजा जयसिंह के राज्य में 1127 से 1149 ई. में इस महान ग्रन्थ का निर्माण किया गया। कल्हण ने इतिहास ग्रन्थ के अनुशीलन करने के पश्चात् इस ग्रन्थ का निर्माण किया। यह महाकाव्य है। इसमें अनेक ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है। (वी.वरदाचार्य-संस्कृत साहित्य का इति. पृ.112)

कल्हण ने अनेक पूर्ववर्ती इतिहासकार कवियों के नामों का उल्लेख भी किया है। वे लिखते हैं कि सुब्रत नामक एक महान कवि ने अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों का सम्पादन कर उन्हें संक्षेप में लिपिबद्ध किया। सुब्रत ने यथार्थ घटनाओं का उल्लेख किया काव्य का लालित्य न होने से उनकी रचनायें लोकप्रिय न ही हो सकती अत: नष्ट हो गयी

(राजतरांगणी 1–11, 12)

राजतरङ्गिणी के इस वक्तव्य से यह भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज में काव्य का आस्वाद उसकी स्मणीयता का व्यापक प्रमाण था, जिससे नीरस ऐतिहासिक ग्रन्थों का पठन–पाठन और उनका संग्रह अवरुद्ध हो गया। कल्हण ने क्षेमेन्द्र कृत नृपावली नामक ग्रन्थ का भी नामोल्लेख किया है। वह कृति भी लुप्त हो गयी। (राजत. 1/13)

हेलाराज नामक महाकवी ने 12 हजार (श्लोकवाली) पार्थिवावली ग्रन्थ की रचना की थी। इसी प्रकार छविल्लाकर कवि ने अपने ग्रन्थ में अशोक से लेकर अभिमनु तक नरेशों का वर्णन किया है। इस प्रकार कल्हण की राजतरंगिणी संस्कृत साहित्य की ऐतिहासिक काव्यकृति है, जो कि संस्कृत को इतिहास का स्त्रोत सिद्ध करती है।

आधुनिक समय में इतिहास लिखने की परम्परा जागृत हुई है। यह हर्ष की बात है। मराठा राज्य के उनायक वीरशिवाजी एवं तत्कालीन सपनों मोहमद गजनी, अफजल खां, औंरगजेब का उल्लेख कर कवि अम्बिकादत्त व्यास ने शिवराजविजय कृति लिखी है।

भारत चीन युद्ध का ऐतिहासिक वर्णन करते हुए म.म. शशिधर शर्मा ने वीरतरङ्गिणी की रचना की है। जिस पर जनरल करिअप्पा ने अपनी सहमति वाक् लिखा है।

(साहित्यविभाग, श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसर देवप्रयाग)

✦✦✦

भारतीय ज्योतिष शास्त्र में वर्णित भौगोलिक स्थिति

–डॉ. सुरेश शर्मा (ज्योतिष विभाग)

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वान सभी मानते हैं कि वैदिकज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। भारतीय चिन्तन धारा के अनुरूप वेद ही समस्त शास्त्रों के आधार एवं मार्गदर्शक हैं । यथा– भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिध्यति । (मनुस्मृति12/97)। महर्षि पाणिनि ने वेद को 'विद् ज्ञाने', 'विद् सत्तायाम्', 'विद् लृ लाभे', 'विद् विचारणे', 'विद् चेतनाख्यानविषयेषु' के द्वारा समग्र रूप में निष्पन्न किया है वेदभाष्यकार यास्क कहते हैं कि– **''इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोर-लौकिकमुपायं वेदयति यो ग्रन्थोऽसौ वेदः।''** इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार के लिए वेद उपाय का निर्देश करता है। वेद के छह अंगों में ज्योतिष को चक्षु कहा गया है। ज्योतिषशास्त्र का मुख्यविषय अनिष्ट ज्ञान और कालानुरूप वेद विहित यज्ञ-यागादि से अनिष्टपरिहार के लिए सम्यक्काल का निर्धारण करना है क्योंकि यज्ञ काल के आश्रित हैं। भगवान वेदपुरुष के नेत्र स्वरूप ज्योतिषशास्त्र को प्राचीन ऋषियों ने सिद्धान्त संहिता होरा भेद से तीन भागों में विभक्त किया है। सार रूप में सिद्धान्त स्कन्ध का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ग्रह गणित अथवा ग्रहस्पष्टीकरण संहिता स्कन्ध का प्रातिपाद्य स्पष्ट ग्रहों का देश विशेष पर अथवा क्षेत्र विशेष स्थान विशेष पर होने वाले प्रभाव का आकलन तथा होरास्कन्ध का प्रतिपाद्य विषय स्पष्ट ग्रहों का मानव के व्यक्तिगत जीवन पर पडने वाले प्रभाव का कथन।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्योतिषशास्त्र का प्रधान प्रतिपाद्य विषय ग्रहगणित तथा ग्रहों का मानव जीनव पर पडने वाले शुभ तथा अशुभ प्रभाव का वर्णन करना है तो प्रश्न यह है कि ज्योतिषशास्त्र में पृथ्वी की भौगोलिक स्थिति के वर्णन का क्या प्रयोजन? किसि भी व्यक्ति के मानव जीवन पर ग्रहों के व्यक्तिगत अथवा व्यष्टिगत प्रभाव का आकलन करने के लिए पृथ्वी पर उस व्यक्ति के अभवा भूखण्ड की स्थिति का ज्ञान अनिवार्य हैं। जातक जिस स्थान पर जन्म लेता है, उस स्थान से ग्रहों आकाशस्थ ग्रह किस नक्षत्र में किस राशि के कितने अंश पर है, इस आधार पर उन ग्रहों के प्रभाव का आकलन ज्योतिष शास्त्र के माध्यम से किया जा सकता है। यद्यपि ग्रह अपनी अपनी कक्षाओं में ऊर्ध्व तथा अधो क्रम से भमण करते हैं परन्तु भूपृष्ठ से वे एक ही धरातल पर दिखाई देते हैं। तथा उनका स्पष्टी करण उसी धरातल पर किया जाता है।

पृथ्वी में गोलत्व होने के कारण जो ग्रह किसि स्थान से जिस राशि अंश कला विकला में होता है अन्य स्थान से उस राशि अंश कला विकला मृं दृष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि कोई ग्रह हरिद्वारा से सिंह राशि के 5 अंश पर दिखार्द दे तो उसी समय

वही ग्रह केरल से स्थान भेद के कारण 5 अंश पर नहीं दिखार्द देगा। अतः जातक जिस स्थान पर जन्म लेता है, उस स्थान के ग्रह स्पष्ट स्पष्ट कर ग्रहों के स्पष्ट प्रभाव का आकलन ज्योतिषशास्त्र के माध्यम से किया जाता है। भास्कराचार्य ने भी कहा है– ''**यात्रविवाहोत्सवजातकादौ खेटैः स्फूटैरेव फलस्फूटत्वम्**[1]'' तथा ग्रहो के स्पष्टीकरण हेतु जातक की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान आवश्यक होता है।

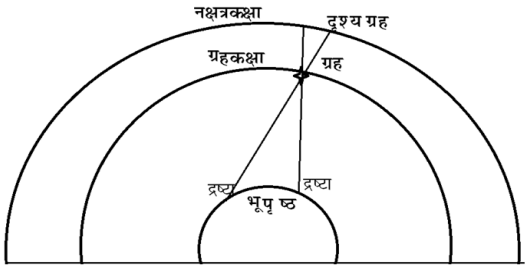

ज्योतिषग्रन्थों के अनुसार भूगोल के मध्य भाग में दोनो पृष्ठीय केन्द्रों में (उत्तर–दक्षिण) मे निकला हुआ मेरु पर्वत अनेक रत्नों के समूह से परिपूर्ण तथा स्वर्णनदी (जाम्बुनद) से युक्त है।[2] दोनो मेरुपर्वतों से 90 अंश की दूरी पर निरक्षमण्डल (अक्षांश शून्य स्थान) है। इस निरक्षमण्डल पर लंका पृथ्वी के मध्य में स्थित है। लंका से पूर्व में यमकोटि नामक नगरी, पश्चिम भाग में रोमक नामक नगर उत्तर भाग में सिद्धपुर, उर्ध्व तथा अधोभाग में सुमेरु तथा कुमेरु पर्वत है। ये छः स्थान परस्पर 90 अंश की दूरी पर स्थित है।[3]

निरक्ष अर्थात अक्षांश शून्य स्थान। दोनो ध्रुवों के मध्य को निरक्ष स्थान कहा जाता है। क्योकि पृथ्वी गोल है अतः दोनों ध्रुवों से 90 अंश की दुरी पर भूपृष्ठ पर किसि भी स्थान पर केन्द्र हो सकता है परन्तु व्यवहार के लिये एक स्थान की भूमध्य के रूप में कल्पना की आवश्क्ता से ब्रह्मा ने लंका को कुमध्य में कल्पित किया। लंका से 90 अंश की दूरी पर उक्त पांच स्थान स्थित है। निरक्ष स्थान से सुमेरू पर्वत की ओर उत्तरी गोल

तथा कुमेरू पर्वत की ओर दक्षिण गोल है।

आचार्य भास्कर ने पृथ्वी पर समकालीन सात समुद्रों तथा सात द्वीपों तथा सात पर्वतों का वर्णन सिद्धान्तशिरोमणि नामक ग्रन्थ में किया है। ये सप्त सागर दधि–घृत–इक्षु–मद्य–मधुर क्षार तथा दुग्ध जल से युक्त है। सप्त द्वीपों में जम्बु, शाक, शाल्मल, कौश, क्रौञ्च, गोमेदक तथा पुष्कर हैं। पूर्वोक्त लंका के उत्तर में हिमवान पर्वत पूर्व से पश्चिम तक समुद्र में फैला हुआ है। इसके उत्तर में हेमकूट पर्वत है, हेमकूट के उत्तर में निषध नामक पर्वत है। इन पर्वतों के मध्य में द्रोणि देश वर्ष संज्ञक है जिसके आरम्भ में भारत वर्ष है। इसी प्रकार सिद्धपुर के उत्तर की ओर श्रृङ्गवान नामक पर्वत, उसके उत्तर में श्वेतगिरि पर्वत, उसके उत्तर में नीलगिरि पर्वत है। इन सभी का विस्तार समुद्र पर्यन्त है। उक्त पर्वतों के मध्य सर्वप्रथम कुरूवर्ष इसके उत्तर में हिरण्यमय तथा हिरण्यमय के उत्तर में रम्यकवर्ष है। यमकोटि के उत्तर में माल्यवान पर्वत निषध और नील पर्वत तक फैला हुआ है। रोमक पर्वत के उत्तर में गन्धमादन पर्वत है। भारतवर्ष के मध्ये क्रमशः ऐन्द्र, कशेरू, ताम्रपर्ण, गभस्तिमद, कुमारिका, नाग, सौम्य वरुण तथा गान्धर्व नामक नौ खण्ड तथा प्रकार माहेन्द्र, शुक्ति, मलय, ऋक्ष, परियात्रा, सह्य तथा विन्ध्या नामक सात पर्वत हैं।[4]

स्वस्थान ज्ञान के प्रकार[5]

पृथ्वी के मध्य की परिधि मध्य भूपरिधि कहलाती है। दानों ध्रुवों के मध्य में 180 अंश का अन्तर है अतः $180 \div 2 = 90^0$ पृथ्वी पर स्थित मेरूपर्वत से 90 अंश की दूरी पर पृथ्वी पर किया गया वृत्त मध्य भूपरिधि है। सभी प्राचीनाचार्यों ने रावण की राजधानी लंका को पृथ्वी के मध्य में स्वीकार किया है अतः पृथ्वी के पृष्ठ भाग पर लंका से गया हुआ वृत्त मध्य भूपरिधि कहा गया है। भास्कराचार्य के मतानुसार पृथ्वी की परिधि 4967 योजन तथा व्यास 1581 योजन है पृथ्वी पर जो व्यक्ति जहां पर रहता है वह उसका पृष्ठ स्थान कहलाता है। ध्रुव स्थान से 90 अंश के व्यासार्ध से पृथ्वी के चारों और किया जाने वाला वृत्त मध्य भूपरिधि तथा स्वस्थान पर किया जाने वाला वृत्त स्व स्थानीय स्पष्ट भूपरिधि कहलाती है। स्वस्थान तथा मध्य भूपरिधि के मध्य जो अंश होते है वह अक्षांश तथा स्वस्थान तथा ध्रुव के मध्यवर्ती अंश लम्बांश कहलाते है। इस प्रकार ध्रुव से लम्बांश तुल्य अन्तरांश पर पृथ्वी के पृष्ठ भाग पर चारों ओर किया जाने वाला वृत्त ही स्पष्ट भूपरिधि है। निरक्ष देश में अक्षांश शून्य तथा लम्बांश परम 90 अंश, ध्रुव स्थान पर अक्षांश परम 90 अंश तथा लम्बांश शून्य होते हैं। निरक्ष स्थान में अक्षांश के आभाव तथा लम्बांश परम होने पर भूपरिधि का मान सर्वाधिक होता है। साक्ष (अक्षांश युक्त) देशों में जैसे जैसे अक्षांश बढते है लम्बांश के आभाव में भूपरिधि मान अल्प होता जाता है। भूपरिधि ज्ञान इस अनुपात से किया जाता है – त्रिज्या तुल्य लम्बांश से यदि मध्यभूपरिधि प्राप्त होती है तो इष्ट स्थानीय लम्बांशों से क्या?

$$\frac{\text{मध्यभूपरिधि} \times \text{लम्बांश}}{\text{त्रिज्या}} = \text{इष्टस्थानीय स्पष्ट भूपरिधि।}$$

देशान्तरज्ञान[6]-

इस प्रकार निरक्ष स्थान से स्वथान का याम्योत्तर अन्तर का ज्ञान कर देशान्तर रूप पूर्वापर अन्तर का ज्ञान किया जाता है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार लंका से प्रारम्भ होकर उज्जयनी कुरुक्षेत्रादि देशों को स्पर्श करती हुई मेरू पर्वत तक जाने वाली याम्योत्तर रेखा मध्यरेखा कहलाती है। उस रेखा पर जो देश स्थित हैं वह देश रेखादेश कहलाते है। रेखा देश और अपने देश का पूर्वापर योजनात्मक अन्तर देशान्तर कहलाता है। अर्थात रेखादेश से अपना देश जितने योजन तुल्य अन्तर पर पूर्व अथवा पश्चिम में अवस्थित हो उतना योजात्मक देशान्तर होता है तथा देशान्तर सम्बन्धि ग्रहों का चालन फल देशान्तर फल कहताला है। देशान्तर फल से संस्कृत लंकोदयकालिक ग्रह स्वोदयकालिक होते है। देशान्तर फल का आनयन अनुपात से किया जाता है- यदि स्पष्ट भूपरिधि योजन से ग्रहगति कला प्राप्त होती है तो देशान्तर योजन से क्या?

$$\frac{\text{ग्रहगतिकला ग्देशान्तरयोजन}}{\text{स्पष्टभूपरिधियोज}} = \text{देशान्तरकला}$$

यदि स्वस्थान रेखादेश से पूर्व हो तो देशान्तर फल का रेखादेशीय ग्रह में ऋण संस्कार यदि पश्चिम में हो तो धन संस्कार किया जाता है। अपना देश रेखादेश से पूर्व में है अथवा पश्चिम में इसका ज्ञान इस प्रकार किया जाता है- यदि स्वस्थान में रेखादेश से पहले सूर्योदय हो तो स्वस्थान रेखादेश से पूर्व में तथा यदि रेखादेश के बाद सूर्योदय हो तो पश्चिम में होता है। अथवा खग्रास-सर्वग्रास चन्द्रग्रहण के समय यदि दृष्ट्युपलब्ध ग्रहण का सम्मीलन अथवा उन्मीलन काल गणित द्वारा आनीत ग्रहण काल से अधिक हो तो स्वस्थान रेखादेश से पूर्व में यदि रेखादेश से अल्प हो तो पश्चिम में अवस्थित होता है। दृष्ट्युपलब्ध ग्रहण काल तथा गणितागत ग्रहण काल के मध्य देशान्तर घटिकाएं होती है।[7]

प्राचीन काल में भारतीय आचार्यों ने लंका को पृथ्वी के मध्य में स्वीकार किया था तथा लंका से होते हुए दोनों ध्रुवों तक गया हुआ सूत्र मध्यरेखा कहलाता था परन्तु अब इग्लैण्ड देश के ग्रिनह्विच नामक स्थान को कुमध्य में स्वीकार कर ग्रिनह्विच से दोनों ध्रुवों में गया हुआ सूत्र प्रधान देशान्तर रेखा तथा स्वस्थान से दोनो ध्रुवों पर्यन्त की गई रेखा स्वस्थानीय रेखा होती है। प्रधान देशान्तर रेखा तथा स्वस्थानीय रेखा का पूर्वापर अन्तर देशान्तर होता है। प्राचीन काल में काल की प्रवृत्ति लंका से थी परन्तु इस समय ग्रिनह्विच नामक स्थान से है तथा योजनात्मक देशान्तर के स्थान पर अंशात्मक देशान्तर ग्रहण किया जाता है। चक्रात्मक एक अहोरात्र में 24 घण्टे तथा 360 अंश होते है। $360^0 \div 24 = 15$ अंश, इस

प्रकार एक घण्टे में 15 अंश तथा 60 मिनट ÷15 अंश=4 अंश, अतः एक अंश में 4 मिनट होते हैं। रेखादेश तथा स्वदेश के मध्य जितना अंशात्मक देशान्तर होता है। उसे 4 से गुणा कर देशान्तर मिनट होते है। देशान्तर मिनटों को गोल के अनुसार धन तथा ऋण करने से स्थानीय समय होता है। जैसे स्थानीय काल के ज्ञान के लिए भारत का देशान्तर इलाहबाद नामक स्थान से लिया जाता है। प्रधान देशान्तर रेखा से इलाहबाद का अंशात्मक अन्तर 82 अंश तथा 30 कला है अतः 82०30 X4=330 मिनट, 330÷60=5 घंटे 30 मिनट। भारत देश की मध्यरेखा से पूर्व में स्थिति होने के कारण भारत का समय 5 घंटा 30 मिनट पहले चलता है। अर्थात ग्रीनह्विच में जब मध्याह्न होता है उस समय भारत में प्रातः 5:30 का समय होता है। इस प्रकार अक्षांश तथा देशान्तर का ज्ञान कर लंका क्षितिज मे स्पष्ट ग्रहो में याम्योत्तर रूप चर तथा पूर्वापर रूप देशान्तर का संस्कार कर स्व-स्थान के ग्रह स्पष्ट ग्रहों का साधन किया जाता है।

अतः ज्योतिषशास्त्र में स्व स्थान के स्पष्ट ग्रहों का ज्ञान करने के लिए इष्ट स्थान के ज्ञानार्थ भौगोलिक स्थिति का ज्ञान की विधियां तथा भौगोलिक स्थितियों का वर्णन किया गया है। भौगोलिक स्थिति के अन्तर्गत द्वीपों पर्वतों, समुद्रों इत्यादि का भी विशद वर्णन किया गया है।

1. सिद्धान्तशिरोमणि, स्पष्टाधिकार, श्लोक सं0 - 1
2. सूर्यसिद्धान्त भूगोलाध्याय, श्लोक संख्या - 34
3. सूर्यसिद्धान्त भूगोलाध्याय, श्लोक संख्या - 38 से 41
4. सिद्धान्तशिरोमणि, स्पष्टाधिकार, श्लोक सं0- 21 से 40
5. सिद्धान्तशिरोमणि, भूपरिध्याय श्लोक सं0-1, 2
   सिद्धान्तशेखर, मध्यमाधिकार, 95 से 97
   सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकर, श्लोक संख्या -59
   शिष्यधीवृद्धितन्त्रम्, मध्यमाधिकार, श्लोक संख्या- 43 से 45
6. सिद्धान्तशिरोमणि, भूपरिध्याय श्लोक सं0- 2,3
   ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त, मध्यमाधिकार, श्लोक संख्या 37 से 39
7. सूर्यसिद्धान्त मध्यमाधिकार, श्लोक संख्या - 63,64,65
   सिद्धान्तशिरोमणि, भूपरिध्याय श्लोक सं0- 4 से 6

(सहायक प्राध्यापक, ज्योतिष, राष्ट्रिय संस्कृत सस्थान,
श्री रघुनाथ कीर्ति परिसर, देवप्रयाग, उत्तराखण्ड)

✦✦✦

संस्कृत और हिन्दी में 'नेता' सम्बन्धी अवधारणा

–डॉ. कुसुम लता

भरतमुनि का 'नाट्शास्त्र' नाट्यतत्वों, नाट्य उत्पत्ति आदि पर विचार करने वाला सबसे प्राचीनम ग्रन्थ है, भरतमुनि के बाद जिन विद्वानों ने नाट्य-तत्वों के सम्बन्धों में अपने विचार प्रकट किये हैं उनके विचारों पर न्यूनाधिक रूप में भरतमुनि के मतों की छाप दिखाई देती है। भारतीय साहित्य में संस्कृत और हिन्दी नाटकों की समृद्ध परम्परा रही है। संस्कृत नाटकों के पात्र नाट्य सम्बन्धी मान्यताओं पर खरे उतरते हैं। हिन्दी तक आते-आते नाट्य प्रयोजन सम्बन्धी विचारों में युगानुरूप परिवर्तन आया। अब नाटकों का उद्देश्य केवल मनोरंजन मात्र नहीं था बल्कि नाटककार नाटकों के माध्यम से युगीन यथार्थ को अभिव्यक्त कर रहे थे।

वस्तुत: नाटक व्यक्ति को उसकी समस्याओं से अवगत कराने के साथ-साथ उनसे निदान पाने का मार्ग भी दिखला रहे थे। संस्कृत नाटकों में जहाँ एक ओर लोकप्रसिद्ध वैदिक, पौराणिक पात्रों को लेकर नाट्य रचना की जा रही थी वहीं हिन्दी नाटकों के पात्र लोकप्रसिद्ध होने के साथ-साथ सामान्य वर्ग से भी थे। विभिन्न संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने 'नेता' सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना करके नाट्य-सिद्धान्तों की नींव रखी। भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' नाट्य सिद्धान्त सम्बन्धी सबसे प्राचीनम ग्रन्थ है। इसमें इन्होंने नाटक के उद्भव और नाट्य तत्वों पर विस्तार से विचार किया है। 'नेता' के सम्बन्ध में विचार करते हुए भरतमुनि ने नायक-नायिका, प्रतिनायक और उनके सहायक पात्रों के सम्बन्ध में भी अपने मत प्रस्तुत किये हैं। बहुत से पुरुषों में जो अग्रणी है उसे इन्होंने नायक की संज्ञा दी है। जो नायक विपत्ति और अभ्युदय में सुख का अनुभव करता हो और दोनों अवस्थाओं में अपनी श्रेष्ठता बनाये रखता हो वह नायक कहलाने का अधिकारी है। 1. नेता अथवा नायक 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ 'ले चलना' होता है। नायक ही वह पात्र होता है जो नाटकीय कथा की श्रृंखला को अग्रसर करके अंत तक जे जाता है। 2. भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में मनुष्य के स्वभाव का लक्षण बताते हुए उसके तीन प्रकार बताये हैं-उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम प्रकृति के मनुष्य जितेन्द्रिय, ज्ञानवान, शास्त्रों में कुशल, सबको प्रसन्न करने वाले भगलक्ष अर्थात् ऐश्वर्यशील, दोनों का ढाढस बंधाने वाले, अनेक शास्त्रों का मर्म जानने वाले, गंभीर, उदार, धीर और त्यागी होते हैं। मध्यम प्रकृति वाले मनुष्य लोक-व्यवहार में चतुर, शिल्प-शास्त्र में प्रवीण, विज्ञानं युक्त अर्थात मनुष्य पहचान कर व्यवहार करने वाले होते हैं। अधम प्रकृति के मनुष्य रुखा बोलने वाले, दूसरों से बुरा

व्यवहार करने वाले दुष्ट, मंदबुद्धि, क्रोधी, हिंसक, मित्रघाती, अनेक कौशलों से प्राण लेने वाले, चवाई (चुगली खाने वाले), घमंडी, उद्दंड, कृतघ्न, आलसी, मानी का अपमान करने में प्रवीण, स्त्रियों के पीछे फिरने वाले, झगडालू, दूसरों का दोष ढूंढने वाले, पापी तथा दूसरों का धन हरने वाले होते हैं। 3. भरतमुनि ने चार प्रकार के नायक बताए हैं-धीरोद्दत्, धीरललित, धीरोदात्त, धीरप्रशांत। इनमें देवता धीरोद्त्त, राजाधीर ललित, सेनापति और अमात्य धीरोदात्त और ब्राह्मण तथा वैश्य धीरप्रशांत होते हैं। इन चारों नायकों के चार प्रकार के विदूषक होते हैं। देवताओं के संन्यासी या धर्मध्वजी, राजाओं के ब्राह्मण, सेनापति और अमात्य के राज जीवी अर्थात् राजपुरुष तथा ब्राह्मण और वैश्य की विदूषक उनके शिष्य होते हैं।[4]

भरतमुनि ने स्त्रियों के स्वभाव की मीमांसा करते हुए उन्हें भी नायक की भाँति तीन प्रकृतियों में विभाजित किया है-उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम प्रकृति की स्त्रियों के विषय में लिखा है कि वे मृदु व्यवहार करने वाली, शांत, सदा प्रसन्न रहने वाली, कोमल स्वभाव की, सदा सब को भली बात कहने वाली, लज्जाशील, नम्रता से भरी हुई, सबको प्रिय लगने वाले रूप और माधुर्य वाली, स्वाभाविक गुणों वाली गंभीर और धैर्य युक्त होती है। मध्यम गुण वाली स्त्री में भले ही अच्छे गुण न हो परन्तु अवगुण भी नहीं होते हैं। इसमें छोटे-मोटे दोष भी होते हैं। अधम प्रकृति वाली स्त्री वह होती है जिसमें अधम पुरुषों के लक्षण पाए जाएं। जो मिश्र और अधम हो उसे नपुंसक समझना चाहिए।[5] धनंजयने 'दशरुपक' की रचना की। इसमें नायक-नायिका के भेदोपभेद पर विचार करते हुए विशेष गुणों की दृष्टि से नायक के चार भेद बतलाए हैं-धीरललित, धीरशांत, धीरोदात्त और धीरोद्दत्। धीरललित नायक निश्चिन्त और कलाओं के प्रति आसक्त होता है। धीरशांत सामान्य गुणों से युक्त होता है। धीरोदात्त महापराक्रमी, अत्यंत गंभीर, क्षमावान, अपनी प्रशंसा स्वयं करने वाला, स्थिर, अव्यक्त अहंकार वाला, दृढव्रती आदि गुणों से युक्त होता है।[6] धीरोउद्दत नायक माया और छद्म में रत रहते हुए अहंकारी, चंचल, क्रोधी और अपनी प्रशंसा करने वाला होता है।[7]

'नेता' को इन्होंने इक्कीस गुणों (विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, रक्तलोक, शुचि, वाग्मी, रूढ़ंश, स्थिरयुवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृति सम्पन्न, उत्साही, कलावान, शास्त्रचक्षु, आत्म सम्मानी, शूर, दृढ, तेजस्वी और धार्मिक) से युक्त माना है।[8] इसके साथ ही इन्होंने नायक के आठ सात्विक गुणों की चर्चा भी की है। नायिका के विषय में भी धंनजय ने विस्तार से विचार करते हुए उसके तेनभे स्वीकार किये हैं-स्वकीया, परकीया, सामान्या।[9]

विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में नायक के विषय में लिखा है कि दाता, कृतज्ञ, पंडित, कुलीन, लक्ष्मीवान लोगों के अनुराग का पात्र, रूप यौवन और उत्साह से युक्त तेजस्वी, चतुर और सुशील पुरुष काव्य में नायक होता है। प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए इन्होंने नायकों के चार भेद किए हैं-धीरोदात्त, धीरोद्दत, धीरललित, धीरप्रशांत। इन्होंने

नायकों के फिर चार भेद किए हैं-दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ। अनेक पत्नियों में समान अनुराग रखने वाला दक्षिण नायक कहलाता है। झिडकियां खाने पर भी जो लज्जित न हो, दोष दिखने पर भी झूठ बोले वह धृष्ठ नायक होता है। जो एक ही नायिका में अनुरक्त हे वह अनुकूल और जो अनुरक्त तो किसी अन्य में हो परन्तु प्रकृत नायिका में भी बाहरी अनुराग दिखलाए और प्रच्छन्न रूप से उसका अप्रिय करे वह शठनायक होता है।[10] धनंजय की भांति इन्होने नायिका के तीन भेद किये हैं-स्वकीया (अपनी स्त्री), परकीया (अन्य की स्त्री), वेश्या। रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्यदर्पण' में मानव प्रकृति के आधार पर भरतमुनि की तरह स्त्री और पुरुष पात्रों को उत्तम, मध्यम व नीच की श्रेणी में रखा है। नायक के विषय में इनका मत है - प्रधान फल को प्राप्त करने वाला व्यसन से रहित मुख्य नायक होता है। पूर्व प्रचलित परम्परा के अनुरूप इन्होने नायक के विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। नायिका के कुलजा, दिव्या, क्षत्रिया और वेश्या चार भेद किए हैं।[11] शारदा तनय ने भी पूर्व प्रचलित परम्परा के अनुसार नायक के चार भेदों को अपनाया है। सागर नंदी ने 'नाटक लक्षण रत्नकोश' में अपनी पात्र सम्बन्धी अवधारणा प्रस्तुत की है। नायक, नायिका के सम्बन्ध में इन्होने जो लिखा है वह पूर्व विद्वानों से अनुग्रहित है।

संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने 'नेता' के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये उन पर भरतमुनि और धनंजय का प्रभाव पूरी तरह दिखाई देता है। हिन्दी तक आते-आते नाटक का प्रयोजन बदल गया। नाटक जीवन के निकट होने से उसके पात्र भी समान्य हो गए। यही वजह है हिन्दी नाट्य-विद्वानों के 'नेता' सम्बन्धी मत थोड़े भिन्न दिखाई देते हैं। भारतेंदु जी ने पात्र के सम्बन्ध में पूर्व प्रचलित परम्परा का अनुसरण किया परन्तु उनके नाटकों में उनका पूर्णत: पालन नहीं किया गया। नायक के सम्बन्ध में उन्होंने विनय, शीलता, दक्षता, क्षिप्रता, शौर्य, प्रिय-भाषिता, लोक-रंजकता, वाग्मिता प्रभृति गुण समूह-सम्पन्न सदृश सम्भूत युवा को नायक होने का अधिकारी माना है।[12]

नायक की भांति नायिका में भी उन्हीं गुणों का होना आवश्यक माना है। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नायक के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये हैं वे पूर्ण रूप से संस्कृत नाट्यशास्त्रियों से अनुग्रहित हैं। इन्होंने कथावस्तु को नियंत्रित करने वाले को नायक की संज्ञा दी। संस्कृत नाट्यशास्त्रियों की भांति इन्होंने नायक के चार भेद बतलाए-धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशांत और धीरोद्दत। प्रसाद जी ने पात्रों के विषय में अपने पूर्व विद्वानों की परम्परा को अपनाया है। नायक के सम्बन्ध में इन्होंने कोई मौलिक उद्भावना नहीं की है। इनके नाटकों में जिस प्रकार के नायक-नायिका पाए जाते हैं उस आधार पर कहा जा सकता है कि ये 'नेता' के परम्परा प्रचलित रूप के समर्थक रहे हैं। इनके नाटकों में नायिकाओं का भी जो रूप सामने आयाहै वह राजमहिषियों या राजकुल की कुमारियों का है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने पात्र सम्बन्धी अवधारणा के विषय में परम्परा का निर्वाहन करते हुए नवीन उद्भावनाएँ की हैं। नायक के विषय में इनका मत है कि नायक में किन्ही विशिष्ट गुणों की आवश्यकता नहीं है। वह किसी भी परिस्थिति का मनुष्य मात्र हो। साधारण से साधारण

मनुष्य भी नाटक के नायक होने का अधिकारी है। नाटक के चरित्र के सौन्दर्य में निखार लाने के लिए अन्तर्द्वन्द्व को महत्वपूर्ण माना है। इस सम्बन्ध में उनका मानना है कि वह विभिन्न सामाजिक वर्गों के प्रतिनिधि हो सकते हैं। उनके माध्यम से ही हम समाज के विभिन्न वर्गों की प्रवृत्तियों को समझ सकते हैं। नाटक चरित्र प्रधान होने चाहिए ताकि वे जीवन के गूढ़ रहस्यों से परिचित करवाने में सक्षम हों।[13]

लक्ष्मीनारायण मिश्र ने संस्कृत नाट्यशास्त्रियों की भांति नायक तथा अन्य पात्रों के सम्बन्ध में अपना मंतव्य प्रस्तुत नहीं किया है। मिश्र जी ने पात्रों के सम्बन्ध में अपनी युगीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर मंतव्य प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार पात्र जिंदगी की सच्चाई को प्रस्तुत करने वाले होने चाहिए। पात्र के सम्बन्ध में उनका ये कथन दृष्टव्य है – 'मैंने अपने चरित्रों को जिंदगी की सड़क पर लाकर छोड़ दिया है। वे अपनी प्रवृत्तियों और परिस्थितियों के चक्कर धार घेर में होकर रुकते हुए, थकते हुए, ठोकर खाते हुए, आगे बढते गए हैं.....ये सच है कि उन्होंने भी क्रांति की है, सामाजिक या राजनैतिक नियमों की अवहेलना की है। किन्तु कब? विरोधी उपकरण जब जिंदगी की राह रोक कर खड़े जो जाते हैं।'[14]

मिश्रजी के मतानुसार जब पात्र के चारित्रिक विकास के मार्ग में प्रतिरोधी परिस्थितियाँ बाधक हो जाती हैं तब पात्रों द्वारा विरोध होना स्वाभाविक है। सेठ गोविन्ददास ने कथा के लिए पात्रों की उपस्थिति को अनिवार्य स्वीकार किया है। नायक के सम्बन्ध में उनकी धारणा परम्परा से भिन्न है। उनकी मान्यता है–'सामाजिक नाटकों में सभी पात्र साधारण गृहस्थ होने के कारण तब तक नेता को प्रधानता नहीं मिल सकती जब तक वह किसी विशिष्ट सामाजिक दल का प्रतिनिधि न हो। बिना इसके सामाजिक नाटक में एकता का स्थापित करना बहुत ही कठिन हो जाता है।[15] इस कथन के अनुसार नायक का नाटक के अन्य पात्रों की अपेक्षा चारित्रिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। उपेन्द्रनाथ अश्क ने भी हिन्दी नाटककारों की भांति संस्कृत नाट्य–सिद्धान्तों क पुर्णत: अनुगमन नहीं किया है। इन्होने भी परिस्थितियों से उत्पन्न पात्रों को ही नाटक के लिए अनिवार्य घोषित किया है। चाहे वह किसी भी वर्ग का हो। नायक के लिए इन्होंने संस्कृत नाट्यशास्त्रियों की तरह विशेष गुणों को स्वीकार न करते हुए उसके चारित्रिक विकास के लिए युगीन परिस्थितियों पर बल दिया है। फिर चाहे वे किसी भी वर्ग का प्रतिनिधित्व करें।

नाटककार के उद्देश्य को पूरा करने के लिए और नाटक को दृश्य रूप में रंगमंच पर अभिनीत करने के लिए पात्र अहम् भूमिका निभाते हैं। पात्रों के आभाव में नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती है। पात्रों के स्वभाव एवं उनके क्रिया–कलाप द्वारा ही नाटकीय कथावस्तु पल्लवित होकर फलागम तक पहुँचती है। भरतमुनि, रामचंद्र गुणचन्द्र, शारदातनय आदि नाट्यशास्त्रियों ने नाटक के पात्रों की तीन कोटियाँ निर्धारित की–उत्तम, मध्यम और नीच। संस्कृत नाट्य–शास्त्र में सभी पात्रों में नायक को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। वही

सब घटनाओं का केन्द्र-बिन्दु होता है। कथा को वही आरम्भ से फलागम तक ले जाता है। इस दृष्टि से हिन्दी नाट्यकारों का भी यही मत है। भले ही नायक कौन हो इस बात को लेकर हिन्दी नाटककारों ने पूर्व-निर्धारित मान्यता को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया है परन्तु यह नि:संदेह कहा जा सकता है कि संस्कृत से हिंदी तक नाटकों की एक समृद्ध परम्परा रही है। तब से लेकर आज तक जिस प्रकार नाटक के कथ्य में बदलाव आया है ठीक उसी प्रकार 'नेता' सम्बन्धी विचारों में भी बदलाव आया है। यह बदलाव सैद्धान्तिक स्तर पर है। मूलरूप में देखा जाए तो नायक-नायिका आधुनिक हिन्दी नाटकों में भी उसी प्रकार अपनी पहचान बनाये रखते हैं जैसे वे संस्कृत नाटकों में रखते थे।

संदर्भिका :

1. भरतमुनि : भारतीय नाट्य सिद्धांत - उद्भव और विकास, पृ. 215
2. वही, पृ. 214
3. सीताराम चतुर्वेदी : अभिनव नाट्यशास्त्र, पृ. 188-189
4. वही, पृ. 185
5. वही, पृ. 189
6. आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक, पृ. 147
7. वही, पृ. 151
8. वही, पृ. 141
9. वही, पृ. 160
10. आ. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, पृ. 65, 66, 67
11. रामचंद्र गुणचन्द्र : नाट्यदर्पण, पृ. 378
12. भारतेंदु : नाटक, पृ. 13-14
13. डॉ. रामकुमार वर्मा : रेशमी टाई : भूमिका
14. लक्ष्मी नारायण मिश्र : संन्यासी, पृ. 8
15. सेठ गोविन्ददास : नाट्यकला-मीमांसा, पृ. 16

दौलतराम महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

✦✦✦

गढ़वाली लोक साहित्य पर वेदों का प्रभाव

डॉ. शैलेन्द्र प्रसाद उनियाल

पावन भारत भूमि पर वेद का के दो सम्प्रदाय हैं ब्रह्म-सम्प्रदाय तथा आदित्य-सम्प्रदाय आदित्य-सम्प्रदाय के आद्याचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं–

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायोनविद्यते ।
एतंविदन्तिवेदेनतस्माद्वेरस्यवेदता[1]॥

प्रत्यक्ष प्रमाण तथा अनुमान प्रमाण के द्वारा जिसे साक्षात् नहीं किया जा सकता ऐसे अज्ञातार्थ का जो ज्ञापक वेद भाग वह विधि रूप में प्रसिद्ध है जैसे यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। लेकिन स्वर्ग बिना मरे नही होता सभी जानते है जिसको अन्य उपायों द्वारा नहीं जाना जा सकता है ऐसे लौकिक उपाय जो बतलावे वही वेद है। इष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट निवारण का अलौकिक उपाय को जो ग्रन्थ बतलावे उसे वेद कहते हैं।

आचार्य सायण कहते है। "इष्टप्राप्त्यनिष्ट परिहारयोरलौकिकमुपायं वेदयतियो ग्रन्थोऽसौवेद:[2]" विद्ज्ञाने, विद् विचारणे विद् सत्ताया, विद्लृलाभेविद् चेतनाख्याननिवासेषु इस प्रकार पाँच बार पाणिनि द्वारा वेद शब्द को सिद्धि प्रदान की गई जो ज्ञान, विचार, सत्ता, लाभ, चेतना, आख्यान एवं निवासादि अर्थों मे प्रयोग होता है तात्पर्य यह है के वेदों के ज्ञान द्वारा व्यक्ति मनोवांञ्छित फलों को प्राप्त कर मानव जीवन का जो परमोत्कृष्ट लक्ष्य है "नरत्वसेनारायणत्व एवंजीवत्वसेशिवत्व की प्राप्ति" उसे धार्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप मे प्राप्त करता है। अन्यथा मानव-जन्म ही बकरी के गले के स्तन जैसा व्यर्थ है। वेदों को जानने के लिए ही छ:[3] अङ्गों की कल्पना ऋषियों द्वारा की गई जैसे-मुख रूप में व्याकरण शुद्ध पदों का मुख द्वारा बोला जाना, अर्थात साधु शब्द प्रयोग करना। आँखो का स्थान ज्योतिष शास्त्र है ठीक समय अर्थात् अनुकूल देश-काल परिस्थिति वशात् कार्य करना, नासिका स्थान शिक्षा ग्रन्थ को दिया जो ठीक-ठीक स्वर-वर्णादिका उच्चारण सिखाती है। कान निरुक्त शास्त्र को कहा गया है। जो व्याकरण को पूर्णता देकर शब्दों के उचित अर्थो को बतलाता है। हाथ को कल्प अर्थात् श्रोत:शुल्व एवं धर्म तथा गृह्य चार प्रकार के सूत्रों को कहा गया जिनके द्वारा यज्ञ विधियों शिल्प तथा धर्म की परिपूर्णता का हेतु माना गया, छन्द शास्त्र पाँव को कहा, जिनके द्वारा मन्त्रों में देवता छिपे हुए हैं विना छन्द के ऋषि एवं देवता को जागृत नहीं कर सकते। अर्थात् ऋषि छन्द एवं देवता को जान लेने पर यज्ञ जाप आदि सफल होते हैं। कात्यान कहते हैं जो विना ऋषि छन्द देवता को जाने ब्राह्मण के द्वारा अनुष्ठन करते हैं, उन्हें कर्म की सफलता नहीं मिलती अत एव इस वैदिकभाव की रक्षा हेतु उत्तराखण्ड की

अनुष्ठान पद्धति में खासकर ऋषि छन्द एवं देवता स्मारक विनियोग अवश्य मिलते हैं जिसके लिए विशेष रूप से नित्यानन्द पन्त पर्वतीय की "संस्कार-दीपक" विशाल मणि शर्मा की पूजा भास्कर पद्धतियाँ प्रमाण हैं। इतना ही नहीं अपितु गढ़वाली लोक साहित्य में लोक विश्रुत देवी श्रीराजराजेश्वरी माता जो द्यूलगढ़ (देवल गढ़ श्रीनगर के पास) राजा अजय पाल द्वारा स्थापित है, उनके जागर में अर्चक–ऋषि का स्मरण "औजी" ढोल नगारे के नाद के साथ करता हुआ बोलता है "उन्यालून मेरी देवी पोथी म 'खिलाई' नगारा वादक भौण पूरता हैअर्थात् गाये जाने वाली वाणी को अनु उच्चार करता है "ज्यै ज्वाला तेरूध्यान जगौलाऽऽ'' यह सिद्ध है कि "ऋषयो मन्त्र द्रष्टार:" जो ऋषि जिस मन्त्र कादर्शन ऋतम्भरा प्रज्ञा में किया करता है वह उसी मन्त्र के ऋषि, द्रष्टा कहलाते हैं न कि रचयिता । तो हमें यहाँ उपर्युक्त जागर में वैदिक परम्परा का प्रभाव दृग्गोचर होत है। यजुर्वैदिक मन्त्रों में षकार की खकारसथा य कारको ज बोलने की परम्परा कात्यायन[4] परिशिष्ट में प्राप्त होता है। जो कि हमारे पर्वतीय क्षेत्र मे भी है यथा लोक गीत-वर्षा (वरखा) न पाणी ऐं सुका साल" यहाँ वर्षा को वरखा लोक गीत में है वेद से ही प्रभावित परम्परा है।

तुलना

वेद में	.	**पर्वतीय लोक-साहित्य में**
सूर्यो ज्योतिर्ज्योति:[5]		
सँ वर्षा[6]	.	वर खा न पाणी ऐं सुका साल
देवोयाति भुववानिपश्यन्[7]	.	न जा न जा त्युँ वेडुका पाखों
धर्म्मोऽसि यजु. - 1/2[8]	.	चम्मं चम्मकि धाम डाण्ड्यों मा
त्रयोधर्मा अग्निवायुसूर्य दैवत्या:।	.	
बहिर	.	भैर (बहार)
छन्दासि, छन्दस्	.	छन्द मन्द निबैठि
आरक्षित:	.	अखण्यायुं छ।
उलूखकम्	.	उखल्यारू(उरख्याल टिहरीपौडी)
शट्कर्माणि[9]	.	क्य खटकरम्
दिने दिने	.	साँयसंयोग
शष्टिनिाभ्यन्तरे	.	साटी कि नलै छट्टि छटि
जायमाना धाना:	.	क्ये करना
यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे	.	तेरू बरमण्ड
वर्षतु	.	धोरू बर्खदु तब खूब

द्यौः वर्षतु

कण्टकम्	.	काण्डालग्यॉईदुन्यामसबटकौंकु
टकाः धर्मः	.	खेल छ।
उत्सवकरः	.	छोकरी
मत्स्यः	.	तेरूमछोई गाढबगिगे ले खाले अब खा माछा
कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि	.	जन्म पत्रिसब्बुनवाँचि कर्मनि
जिजी विषेच्छसतसमाः	.	वाँचि कैन
वाचंयच्छ	.	वाच गड़ि वा
श्लेष्मा (जुकाम)	.	सिलेखम् हबयूँ
वसन्त पञ्च खेत की काँटो की निराई कर के कुदाल से खनन कर बीज वपत करना	.	कृषक खेत में भूमि पूजन कर
शारदा पूजनम्	.	बीज वपन जौ के द्वार देश में गोवर से संश्लेष्ठाण।
सरस्वती पूजन ब्रह्मण	.	वैश्य/कृषि कार्य वाले
वर्ग में क्षत्रिय वर्षा में	.	ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य
जीवस्य कुड्यम्(गृहम्)	.	ज्युकुड़ी झुराण लगीं
यज्ञो देवानां-01	.	जन्यो पहिराजी
मुण्डरूक्	.	मुण्डारू
कुशान् लाति	.	लवार्त

इस प्रकार समालोचन से रूद्ध है के वैदिक साहित्य का गढ़वाली लोक भाषा एवं परिवेश पर पर्याप्त प्रभाव है जो समयानुसार संभव भी है। ऐसा कहने में कोई संशय का भय नहीं है।

सन्दर्भः-

1. याज्ञवल्क्यस्मृतिः।
2. तैत्तिरीय संहिता भाष्य भूमिका में पृ. 2
3. छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते। शिक्षाघ्राणं तु वेरस्यमुखं व्याकरणं स्मृतम् तस्मात् साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

4. दुमृतेषकारष्य खकारोन्ज्चारणम्।
5. पदादौ पादादौ च यकरस्य जकारोच्चारणम्।
6. मा.सं. 33/43,
7. मा.सं. 13/57,
8. मा.सं. 1/2,
9. वधूलस्मृति. सन्ध्या स्नानं जपश्चैव देवतानां च पूजनम्। आतिष्यंवैश्वदेवश्च शट्कर्माणि दिनेदिने।

(सहायक प्राध्यापक, वेद विभाग, श्रीरघुनाथकीर्तिपरिसर,
देवप्रयाग, पौड़ी-गढ़वाल, उत्तराखण्ड)

✦✦✦

भारतीय इतिहास के समृद्धि में धर्मेतर साहित्य का योगदान

डॉ. राम नारायण ठाकुर

भारतीय इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त करने के अनेक साधन हैं। भारतीय इतिहास को समुन्नत बनाने में अनेकानेक साहित्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। इसमें धार्मिक साहित्य भी है और लौकिक साहित्य भी है। भारतीय इतिहास को समृद्ध बनाने में धर्मेतर साहित्य का क्या योगदान रहा है। इसकी चर्चा इस आलेख में करने का प्रयास किया गया है। विशेषकर वैसे धर्मेतर साहित्य जिनका सम्बन्ध देवभाषा संस्कृत से है, उसके महत्व को यहां रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में मेरा परिश्रम कहां तक सार्थक रहा है इसका निर्णय सुधी जनों पर आश्रित है।

धार्मिक साहित्य के लेखकों का मुख्य ध्येय धार्मिक क्रियाकलापों का उपदेश देना होता है। इसके फलस्वरूप, राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्वरुप की व्याख्या धूमिल रही है या न्यून मात्रा में इस पर प्रकाश डाला गया है। उदाहरणार्थ धर्मतर साहित्य में सबसे पहले पाणिनि की अष्टाध्यायी का उल्लेख करना चाहते है, जिसमें मौर्य काल से पूर्व के भारत की राजनीतिक, सामाजिक स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। विशाखादत्त के मुद्राराक्षस, सोमदेव के कथासाहित्यसागर और क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामंजरी से मौर्य युग की घटनाओं पर प्रकाश पड़ता है।[1]

धर्मेतर साहित्य के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन किया गया है, जिन्हें मुख्यतया तीन कोटियों में रखा जा सकता है। पतला ऐतिहासिक रचनाएँ जिनमें प्रमुख है कौटिल्य का अर्थशास्त्र, रामन्दक का नीतिसार तथा कल्हण की राजतरंगिणी। दूसरे प्रकार की रचनाएं जिन्हें अर्द्धऐतिहासिक माना जाता है। उनके नाम निम्नलिखित है। सोमेश्वर की रासमाला और कीर्त्ति कौमुदी, मेरुत्तुंग का प्रबंध चिन्तामणी, राजशेखर का प्रबन्धकोश, विशाखदत का मुद्राराक्षस पाणिनी की अष्टाध्यायी और पतंजलि का महाभाष्य। तीसरे प्रकार की धर्मेत्तर ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं जो जीवनपरक ऐतिहासिक ग्रंथ है, ये हैं बुद्धचरित का अश्वघोष, हर्षचरित का बाणभट्ट, संध्याकर नन्दी का रामचरित, जयानक का पृथ्वीराज विजय, पद्मगुप्त का नवसहसांकचरित, विल्क्षण का विक्रमांकदेवचरित।[2]

कौटिल्य का अर्थशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। कौटिल्य के बारे में विशेष रूप से कहा जा सकता है कि वे सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य एवं नन्द के समकालीन थे तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री

थे।[3] अर्थशास्त्र में 15 अधिकरण है। इसका मुख्य विषय वस्तु राजनीतिशास्त्र और प्रशासनिक व्यवस्था है। इसमें कौटिल्य ने प्रसंगत: अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, शिक्षा, सैन्यशास्त्र, यौनविद्या, भूगर्भ विद्या, रसायनशास्त्र, अभियान्त्रिक विद्या आदि अनेक विषयों पर प्रकाश डाला है। चन्द्रगुप्त मौर्य (325–273 ई. पू.) के समकालीन आचार्य कौटिल्य ने लगभग 300 ई. पू. में एक राज्य के संचालन के लिए अर्थशास्त्र ग्रंथ की थी। जिसमें राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं प्रशासनिक विषयों पर वर्णन किया गया है। राज्य को संचालित करने हेतु राज्य के सात अंग बताये हैं। जिन्हें राज्य की प्रकृति भी कहा जाता है।

''स्वाम्यमामात्यजनपदुर्गकोषदण्डऽमित्राणि प्रकृतय: ।[4] इसमें किसी एक के न रहने पर राज्य प्रशासन को चलाना कठिन हो जाता है। राज्य प्रशासन को चलाने हेतु आर्थिक विभाग के महत्व को रेखांकित किया है। इसमें लक्षणाध्यक्ष विभाग मुद्रा जारी करने का विभाग होता था। हर टकसाल सौवर्णिक नामक अधिकारी के अधीन होते थे। मौर्यों की राजकीय मुद्रा पण थी। इसके उपर सूर्य, चन्द्रमा, पीपल, मयूर, बैल, सर्प आदि खुदे होते थे। इसलिए इसे आहत सिक्का (Punch Marked coins) कहा जाता है। इस समय के सिक्के सोने, चांदी और तांबे के बने होते थे।[5]

सोने के सिक्के–निष्क एवं सुवर्ण, चांदी के सिक्के–पण या रूपक, कर्षापण, धरण या शतमान तथा तांबे के सिक्के–माषक या काकणि कहलाते थे।

राजकीय कर के रूप में एकत्रित धान्य को सीता तथा इसके अध्यक्ष को सीताध्यक्ष कहा जाता था। राष्ट्र के कर के दस भेद थे–1. राजकीय कुट 2. षडभाग 3. सेनाभक्त 4. बलि 5. जलाशय और जंगल कर 6. उत्संग–राजकुमार के जन्मोत्सव पर 7. पार्श्व 8. पारिहीणिक (गाय आदि को नुकसान करने पर दण्डावरुप) 9. औपचानिक (भेंटस्वरूप) 10. कौलेयक (तालाबो तथा बगीचों का कर)।[6]

क्रचिम तीन प्रकार का था–

धान्यमूलक (धान्य को बेचकर प्राप्त हुआ धन), कोशनिर्हार (धान्य देकर खरीदा हुआ धन), प्रयोग प्रत्यादान (ब्याज आदि से प्राप्त धन) परिवर्त्तक कर में एक अनाज को दूसरे अनाज में परिवर्तित किया जाता था। प्रामित्यक, कर जो मित्र से लिया जाता था। आपमित्यक, इसमें ब्याज सहित कर्ज वापस किया जाता था। सिंहनिका, जीविकोपार्जन से सम्बन्धित कर। अन्यजात, नष्ट हुए तथा भूले हुए धान। लयप्रत्याय में तीन भेद है। विक्षेपशेष–सेना के व्यय से बचा हुआ धन, व्याधिशेष–औषधालय से बचा हुआ धन, अन्तरारम्भशेष–दुर्ग की मरम्मत से बचा हुआ धन।

उपस्थान–सङी माप तौल के बाद अधिक दिया या लिया गया धन। इसके अतिरिक्त भी कुछ कर लिए पाते थे।

ततोऽर्धमादर्थं जानपदानां स्थापयेत्।
अर्धमुपयुजीत। नवेव धानवं शोधेयम।[7]

व्यापार के क्रम में तीन प्रकार के कर लिए जाते थे। बाह्य, आम्यन्तर और आतिथ्य। शुल्क (चुंगी की दरें प्रत्येक प्रकार के पण्य एवं व्यापार के लिए भिन्न-भिन्न थी।

कौटिल्य की आर्थिक नीतियाँ का मुख्य उद्देश्य था जनकल्याण की भावना, जो निम्नलिखित है।

1. राज्य विभागों की आंतरिक सुरक्षा बनी रहे।
2. राज्य के सर्व साधन सम्पन्न बनाना जिसमें राज्य का चौमुखी कल्याण एवं विकास हो।
3. ग्रामीण और शहरी लोगों की जीविका के साधन के सुरक्षा प्रदान करना।
4. आत्मनिर्भर बाना।[8]

कौटिल्य ने स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार देकर न्यायसंगत तथा मानवीय भावनाओं के अनुकूल व्यवस्था की स्थापना की है। अर्थशास्त्र में उन्होंने स्त्रियों को सुदृढ़ एवं सुलभ आर्थिक सामाजिक संरक्षण प्रदान किया है। उन्हें विशेषधिकार तथा घूटें भी दी गयी थी।

कौटिल्य का आदर्श राज्य तन्त्र इस प्रकार था-

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानाञ्च हितेहितम्।

नात्मप्रियं हितं तस्य प्रजानान्तु प्रियं हितम् प्रजा का सुख ही राजा का सुख है और प्रजा के हिते में ही उसका हित है। उसका अपना प्रिय और हित कुठ भी नहीं है। प्रजा का प्रिय और हित ही उसका प्रिय और हित है।[9]

कामंदक के नीतिसार से गुप्तकालीन राजतंत्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है।[10] नीतिसार की विषय वस्तु, राजनीति एवं राजनीति सिद्धांत है। यह वैसा ही है जैसे अर्थशास्त्र की विषय वस्तु, इसे अर्थशास्त्र की लघु टीका भी कहा जाता है। इसमें विष्णुगुप्त या कौटिल्य का पूर्ण परिचय है। यह गुप्त काल के प्रशासनिक सिद्धांत, न्याय व्यवस्था को जानने का प्रमुख स्रोत है।[11]

कल्हण की राजतरंगिणी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। उन्होंने 1148 ई. में राजतरंगिणी की रचना आरम्भ की और 1150 ई. में समाप्त किया। उन्होंने इस काव्यात्मक ग्रंथ में एक निष्पक्ष इतिहासकार का कर्त्तव्य निभाया है। उन्होंने किसी भी प्रकार के चाटुकारिता को प्रश्रय नहीं दिया। जिस राजा में जो गुण थे उसका उन्होंने बरवान किया है और अवगुण को ठंके की चोट पर जनसाधारण के सामने प्रदर्शित किया है। इसके साथ ही सभी घटनाक्रम तिथि-सवंत सहित सप्रमाण प्रस्तुत किया है।

विल्सन, बूलर और स्टीन जैसे पाश्चात्य इतिहासकार मानते हैं कि महाकवि कल्हण इतिहास प्रणयन कार्य में पूर्ण सफल रहे हैं। उन्होंने कश्मीर नरेशों के उत्थान-पतन की गाथा को वर्ष तथा तिथि के साथ लिखकर इतिहास का बहुत बड़ा उपकार किया है। उनके इस प्रयास से अनेक महापुरुषों के जीवनकाल का निर्णय करने में बड़ी सहायता मिलती है। उन्होंने ऐतिहासिक तथ्य विस्व के समक्ष रखने के उद्देश्य से भगीरथ प्रयास किया है। कल्हण ने राजतरंगिणी के

इतिहास नहीं, बल्कि काव्य समझ कर लिखी है। प्राचीन समय में पाश्चात्य विद्वान भी काव्यग्रंथ इस प्रकार का लिका करते थे। उन दिनों इतिहास ग्रंथों का भी काव्यग्रंथों में ही समावेश समझा जाता था। इसलिए इस ग्रंथ में जगह–जगह पर अलंकार बहुत्य भाषा का उन्होंने प्रयोग किया है। इसमें कल्हण ने उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि बहुत से अलंकारों को स्थान दिया है। भाव, भाषा और घटनाक्रम से सारा ग्रंथ भरा पड़ा है। कल्हण ने इस ग्रंथ के निर्माण में दन्त कथाओं का भी उपयोग किया है। किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से दन्तकथाओं का विशेष महत्व नहीं दिया जाता। इसके वावजूद अपने समय के इतिहास को अपने प्रत्यक्षद्रष्टा होने के कारण अच्छे ढंग से विस्तार पूर्वक लिखा है। कल्हण ने अपने समय के इतिहास में स्पष्टवादिता का पूर्ण परिचय दिया है। तत्कालीन राजाओं के गुण दोष मंत्रियों का कार्यकौशल एवं दोष तता स्वामी भक्ति का सुन्दर खाका खींचा हैं। निन्दा और प्रशंसा दोनों ही निष्पक्ष भाव से और सच्चाई के साथ अंकित की गयी है।[12]

विशाखदत्त की मुद्राराक्षस एक महत्वपूर्ण रचना है। जो ऐतिहासिक तथ्यों को सम्पन्न बनाता है। विशाखदत्त की जो सामन्ती पृष्ठभूमि थी, उसके संदर्भ में राजनीति में उनकी दिलचस्पी थी। इसलिए उन्होंने अपने दो नाटकों के लिए प्राचीन भारत के दो महान साम्राज्यों के कर्णधारों का चुनाव किया। भारत को राष्ट्रिय एकता के सूत्र में आबद्ध–करने वाले चाणक्य चन्द्रगुप्त की कथा के आधार पर उन्होंने मुद्राराक्षस की रचना की जिसमें उन्होंने कल्पना का ऐसा स्वरुप प्रदर्शित किया कि कौटिल्य जैसा राष्ट्रनिर्माता, राजनीति का सफल कर्णधार तथा अर्थशास्त्र जैसे अद्वितीय ग्रंथ का लेखक षडयन्त्रों का सूत्रधार कल्पित हो गया है। इस नाटक में नन्द के पूर्वमंत्री को चंद्रगुप्त के पक्ष में लाने के लिए चाणक्य से जितने छल विशाखदत्त ने करवाये हैं वे ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत एवं एक राष्ट्रनिर्माण तथा सिद्धान्त प्रवर्त्तक के चरित के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं।[13]

मुद्राराक्षस एक कालजयी कृति है जो समाजोपयोगिता पर निर्भर करती है। यद्यपि यह नाटक चन्द्रगुप्त और चाणक्य की राजनीति का वर्णन करता है, लेकिन वह आज के राजनीतिज्ञों के लिए भी प्रेरणाप्रद है। मुद्राराक्षस नाटक पर कौटिल्य के अर्थशास्त्र का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिन सिद्धांतों का उल्लेख किया है उनमें से कुछ का व्यावहारिक रूप प्रदान करने का सफल प्रयास नाटककार ने किया है।[14]

मुद्राराक्षस विशाखदत्त की कल्पना पर आधारित नाटक है, जिसे ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणिक नहीं माना जाएगा। यह ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणिक नहीं माना जायगा। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त ने चाणक्य के साथ मिलकर मगध के नन्द वंश को समूल नष्ट कर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना की थी जो मौर्य वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके लिए चाणक्य ने क्या कार्य किया यही प्रतिपाद्य विषय है। अर्थशास्त्र में राजनीति का परम लक्ष्य ''राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेप है, लेकिन मुद्राराक्षस में राजा और राज्य के हित के साथ साथ प्रजा के कल्याण को प्राथमिकता प्रदा की गयी है।[15]

पाणिनि की अष्टाध्यायी का मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों का परिचय देना है। लेकिन पाणिनि का यह शास्त्र तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का कोष ही बन गया है। भारतीय संस्कृति की पूर्ण जानकारी के लिए सि ग्रंथ के अध्ययन अत्यन्त प्रासंगित है।

मध्य एशिया के कम्बोज जनपद से लेकर असम के सूरमस जनपद तक फैले अनेक जनपदों का परिचय पुराणों के प्राचीन भुवन-कोशों की तरह यहां मिलता है। अत: संस्कृत साहित्य में ऐसा प्राचीन ग्रंथ नहीं प्राप्त होता जिसमें भूगोल की सामग्री इतनी अधिक सुरक्षित हो जितनी अष्टाध्यायी में है।[16] अष्टाध्यायी की भौगोलिक तथ्य प्राचीन भारतीय इतिहास के लिए अत्यंत उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द का संचय किया है उसमें देश, पर्वत, समुद्र, वन, नदी, प्रदेश, जनपद, नगर, ग्राम इनसे संबंधित अनेक नाम और शब्द थे।

शब्दों का आयुष्य भी भिन्न-भिन्न होता है, अनेक शब्द जन्म लेते है और कुछ समय तक लोक के कंठ में रह कर विलिन हो जाते है। ऐसे शब्द पुरातत्व के अवशेषों की भांति प्राचीन अर्थों का स्मरण कराते हुए अतीतकालीन जीवन पर प्रकाश डालते हैं। अपने शब्द शास्त्र में उन्होंने निम्नलिखित विषयों को स्थान दिया। सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, शिक्षा और साहित्य, धर्म और दर्शन, राजनैतिक संगठन।

पाणिनिकालीन समाज के मूल आधार वर्ण और आश्रम व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख अष्टाध्यायी में प्राप्त होता है। पाणिनि के अनुसार गोत्रों और चरणों की भी पृथक जातियां होने लगी थी।[17]

पाणिनि के समय से अनुलोम-प्रतिलोम शब्द प्रचलित हो चुके थे (5/4/75)।

शिक्षा की सुविधा का उल्लेख उपनिषदों में भी प्राप्त होता है, जहाँ आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते हैं। विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने वाले व्यक्ति के लिए प्राचीन संज्ञा 'गृहपति' थी। पाणिनि ने विवाह के लिये उपयमन (1/2/16) शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या 'स्वकरण' शब्द से सूत्र में की गई है। विवाह के सम्पन्न होने में वट के द्वारा वधू के पाणि-ग्रहण का महत्व 'पाणिगृहिती' शब्द से प्रकट होता है।

स्त्री के जीवन के अनेक क्षेत्रों का अष्टाध्यायी से परिचय मिलता है। कुमारी, पत्नी, माता, छात्रा, आचार्या आदि दशाओं में उसके जीवन की कुछ झांकी तत्कालीन भाषा के शब्दों में आ गई है। पाणिनि तक्षशिळा की परम्पराओं से सुपरिचि थे। रोग और औषधियों से संबंधित कुछ शब्द अष्टाध्यायी में आये हैं।

पाणिनि युग में संगीत और वाद्यकर्म को भी शिल्प माना जाता था, जिसे अब ललितकला का पद दिया जाता है। जातक युग की भी यही विशेषता थी। वहां संगीत की गणना शिल्पों में की जाती थी।

काल विभाग को पाणिनि ने भी माना है पर वे स्पष्ट करते हैं कि इस विषय में लोक को प्रमाण मान लेना चाहिए (कालोपसर्जने च तुल्यम, 1/2/57) इस प्रकार पाणिनि के अष्टाध्यायी

में सामाजिक जीवन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होता है।[18]

जानपदी वृत्ति का उल्लेख पाणिनि से पहले यास्क में आता है-'जानपदीषु विद्यात: पुरुषो भवति' अर्थात जनपद सम्बन्धी या शिल्पों में कुशलता प्राप्त किया हुआ पुरुष विशेष समझा जाता है, निरुक्त (1/16)।

कृषि शब्द का अर्थ केवल तल चलाना था (महाभारत)।। लेकिन कात्यायन और पतंजलि में कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया गया है-कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या इस चलाना नहीं बल्कि बीज, बैल एवं कर्मकर आदि के लिए भोजन का प्रबंध करना भी कृषि धातु के अर्थ के अन्तर्गत परणित है। कृषि योग्य भूमि अलग अलग क्षेत्रों में बंटी रहती थी। एक हल की जोत के लिए पर्याप्त भूमि 'हल्ल' कहलाती थी (हलस्य कर्ष: हल्य:, 4/4/97, काशिका)। सीता शब्द ऋग्वेद और उत्तरवैदिक संहिताओं में कृषि के देवता और हल की फाड़ के लिये प्रयुक्त हुआ है। किसानों के निजी खेत नापजोख के आधार पर एक दूसरे से बंटे हुए थे। पाणिनि ने तीन तरह के किसानों का उल्लेख किया है। 1. अहलि-जिनके पास निज का हल न हो (6/2/187) 2. सुहल-सुहलि, बढ़िया हल रखने वाले 3. दुर्बल-दर्हलि, जिनका हल पुराना पड़कर धिस गया हो। पाणिनि ने कई छोटी-बड़ी नदियां की चर्चा की हैं जिनसे सिंचाई होती होगी। पाणिनीय सूत्रों में औषधि-वनस्पतियों का भी उल्लेख किया है। पुष्प, पत्र, फल, मूल इत्यादि के आधार पर औषधियों का नामकरण किया गया था। पाणिनि ने बछड़ों के उम्र का निर्धारण दांत के आधार पर किया है।

आयु-2-2 वर्ष-दांतों की संख्या-दो दांत

आयु-तीन वर्ष-दांतों की संख्या-चार दांत

आयु-साढ़े तीन वर्ष दांतों की संख्या-छह दांत

आयु-चार वर्ष दांतों की संख्या-आठ दांत

वाणिज्य-व्यापार के लिए सामान्यत: शब्द व्यवहार चालू था। उसे पण भी कहा गया है। व्यवहार का मुख्य लक्षण क्रय-विक्रय है (4/4//13) व्यापारियों के लिए वाणिक (3/3/52) और वाणिज (6/2/13) ये दोनों शब्द प्रयुक्त होते थे।[19] पाणिनि युग में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तंत्र थे। राजा जिस तंत्र में अधिपति तो उसे राज्य कहा गया है (6/2/30)। एक जनपद की भूमि पृथ्वी और वहां का राजा पार्थिव कहलाता था।

पतंजलि कालीन भारत के अध्ययन से? इस समय की संस्कृति और इतिहास की विशेष जानकारी प्राप्त होती है। पतंजलि ने पुण्यमित्र द्वारा विशाल यज्ञ के किये जाने का उल्लेख मिलता है। महाभाष्य के ऐतिहासिक उद्धरणों से ज्ञात होता है कि पतंजलि रामायण, महाभारत और सूत्र साहित्य के प्रणयन के पश्चात लेकिन कालिदास से पूर्व और पुष्यमित्र के काल में विद्यमान थे। ब्राह्मणों का वर्चस्व चरम पर था। यज्ञ की पुन: प्रतिष्ठा बढ़ गई थी। उस समय किसी यनव ने साकेत और मध्यमिका (चित्तौड़ के निकट नगरी) पर एक साथ आक्रमण

किया ता। पुष्यमित्र ने यवनों की पराजय के बाद ही महायज्ञ किया था जिसमें पतंजलि बी आचार्य रूप में विद्यमान थे।[20]

वाण के हर्षचरित के अनुसार पुष्यमित्र मौर्य के अंतिम सम्राट वृहद्रथ का सेनापति था जिन्होंने उनकी हत्या कर दी। मौर्य शासन में ब्राह्मण अत्यन्त असन्तुष्ट थे इसलिए ब्राह्मण को सेनापति बनाया गया। पुष्यमित्र के राज्य में मौर्यों का मध्य भाग सम्मिलित था। पाटलिपुत्र, अयोध्या, विदिशा, जालन्धर और शाकल ये नगर इसके अन्तर्गत थे।[21]

पतंजलि ने भारत को दो भागों में बांटा है–आर्यावर्त्त और बाह्य। पश्चिम में कुरुक्षेत्रान्तर्गत आदर्श जनपद, पूर्व में प्रयाग का कालक वन, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में पारियात्र उनके आर्यावर्त्त की सीमा थी।[22]

पतंजलिकालीन भारत में समाज का सबसे छोटा घटक कुल था। लोक–व्यवहार में कुल और गोत्र प्राय: एक ही अर्थ में बोले जाते थे। कुल दो प्रकार के माने जाते थे–गुरुकुल और पितृकुल। विवाहिता का कुल पतिकुल होता था। कुल या परिवार के मूल पुरुष थे माता पिता, जिन्हें संयुक्त रूप से ''माता पितरौ या मातरपितरौ'' भी कहते थे।[23] भाष्य में चार वेदों, चार वर्णों और चार आश्रमों का उल्लेख है। इन्हें क्रमश: चातुर्वैध, चातुवर्ण्य और चातुराश्रम कहते थे। आर्य और दास दोनों का उल्लेख भी भाष्य में कई बार हुआ है।[24]

पतंजलि का युग स्त्रियों की सामाजिक प्रतिक्षा के अपेक्षाकृत ह्रास का काल था। स्त्रियों में उच्च शिक्षा का प्राचर अब भी था, तो बी वह बहुत कुछ ब्राह्मणों एवं राजन्य वर्ग तक सीमित रहा गया था। उच्च परिवार में पर्दा प्रथा थी तथा राजपरिवार की स्त्रियां असूर्यम्पश्या थी।[25]

पतंजलिकालीन समाज को भोजन के आधार पर दो भागों में बांटा गया है–अन्नाद या क्रव्याद। पकाये हुए धान्य या स्सय को अन्न कहते थे और उसे खाने वाले को अन्नाद। मांस को पका कर खाने वाले को क्रव्याद कहे जाते थे।[26]

पतंजलि के समय में कृषि शब्द में उन सब क्रियाओं का अन्तर्निवेश हो चुका था, जो इस व्यवसाय के अन्तर्गत गिनी जाती है। इसमें जोतना, खोदना, बोना, निराना, काटना, गहना सलाना इत्यादि सभी कार्य आ जाते थे। बैल और हल कृषि के मुख्य साधन थे।[27]

गायक, वादक, पाणिघ और वाऽध के अतिरिक्त भाष्य में अनेक शिल्पियों का उल्लेख है, जैसे–कुलाल, तथा रथकार, धनुष्कार, अयस्कार, कर्मार, नगरकार, कटकार और रज्जुकार इत्यादि। वाणिजों के नाम या श्रेणियां दो आधारों पर थीं–एक उनके वाणिज्य के स्थान के नाम पर और दूसरे वाणिज्य की वस्तु के नाम पर।[27]

भाष्य में शरीर, शारीरिक सौंदर्य, शरीर–विकृति, रोग, औषधि आदि के विषय में जो उल्लेख मिलते हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार शरीर शास्त्र एवं आयुर्विज्ञान से पूर्णत: परिचित थे।

सोमदेव का कथासाप्तिसागर-कथासरित्सागर में कहानियों का एक बढ़िया समूह वलास-पच्चीसी नामक पच्चीस कहानियों का है। क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामंजरी में भी थे कहानियां है। पंचतंत्र की भी बहुत सी कहानियां कथा-सरित्सागर में बिखरी हुई है। सोमदेव ने मूर्खो की कहानियों में रूचि लिया है। उन्होंने सम्पूर्ण समाज के चित्र को पेश करने का प्रयास किया है। सोमदेव ने स्त्री चरित्र को बी उजागर करने का प्रयास किया है। उन्होंने मानव स्वभाव के सत्य को दर्शाने का प्रयास किया है। सोमदेव ने नीति सम्बन्धी अनेक सूक्तियों की भी व्याख्या की है।[29]

संस्कृत साहित्य में कल्हण की 'राजतरंगिणी' एकमात्र ग्रंथ है जिसे हम इतिहास का निकटतम प्रयास कह सकते है। इसके ऐतिहासिक आधार इतिहासकार क्षेमेन्द्र, हेपाराज, पद्ममिहिर, नीलमुनि आदि की पूर्व रचनाएं, राजकीय शासन पत्र और प्रशस्तियां है।[30]

धर्मेतर साहित्य के संदर्भ में कुछ विद्वानों का मानना है कि ये धर्मनिरपेक्ष साहित्य है। इसमें विदेशीयों के यात्रा वृत्तान्त, जीवन चरत्रि तथा जन साहित्य भी शामिल हैं। यात्रा-विवरणों में यूनानी, चीनी और मुसलमान लेखक प्रमुख है। इसमें मेगस्थनीज प्रमुख है जिन्हें सिकन्दर के पूर्वी साम्राज्य के उत्तराधिकारी सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में राजदूत बनाकर भेजा था और जिसने अपनी पुस्तक 'इण्डिका' में भारत के बारे में समकालीन जानकारी प्रस्तुत की। चीनी यात्रियों में फाहयान, ह्वेनसांग और ईत्सिंग प्रमुख है। इनसे भारत की तक्कालीन परिस्थितियों मुख्यता धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक ज्ञान उपलब्ध होता है। समकालीन 'जीवन चरित्र' भी उस समय के इतिहास को जानने में अमूल्य सहायता प्रदान करते हैं। इनमें बाणभट्ट का हर्षचरित्र, विल्हण का विक्रमांकदेव चरित्र, पद्मगुप्त का नवसहसांक-चरित्र, बल्लाल का भोजप्रबन्ध, सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित्र। नयचन्द्र का हम्मीर काव्य, चन्द्रबरदाई का पृथ्वीराज विजय आदि प्रमुख ग्रंथ माने गये है।[31] जन साहित्य का निर्माण भी विभिन्न विद्वानों ने साहित्य, अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, नाटक, काव्य संग्रह, व्याकरण और अन्य ज्ञान के विकास के लिये किया, इतिहास को जानने में सहायक हुआ। इसमें वात्सायन का कामसूत्र, हर्षवर्द्धन के प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द तथा कालिदास और भवभूति के विभिन्न ग्रंथ इनमें प्रमुख हैं।

इनके अतिरिक्त हिन्दू, बौद्ध और जैन धर्म के मानने वालों ने अनेक धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष ग्रंथों की रचना की। इसमें संस्कृत भाषा के अनेक ग्रंथ हैं।[32]

भारत एक लोकतांत्रिक राष्ट्र है। भारतीय प्रस्तावना में जो भारतीय संविधान की मूल आत्मा मानी जाती है। इसमें पंथनिरपेक्ष एवं गणराज्य का उल्लेख किया गया है। ऐसी परिस्थिति में धर्मेतर साहित्य के माध्यम से इतिहास को समुन्नत बनाने में जिन महत्वपूर्ण ग्रंथों का योगदान प्राप्त होता है, उसके बारे में जानना एक महत्वपूर्ण तथ्य हैं।[33]

अत: भारतीय इतिहास को सम्पन्न बनाने में धार्मिक साहित्य और धर्मेतर साहित्य दोनों का बहुमूल्य योगदान है। लेकिन धर्मेतर साहित्य में समाज के सभी व्यस्थाओं को मूल्यांकन

किया गया है। इसलिये धर्मेतर साहित्य का अध्ययन एवं चिन्तन समाजोपयोगी जान पड़ता है।

पादटिप्पणी

1. प्राचीन भारत का इतिहास-डी. एन. झा श्रीभासी-पृ.
2. प्राचीन भारत-कुमार नासिन-पृ.9
3. कौटिल्य का प्रशासनिक विचार-देवकान्ता शर्मा-पृ.-20
4. अर्थशास्त्र, 6/16/1, पृ. 441
5. प्राचीन भारत का इतिहास-एस. के. पाण्डे-पृ.-140
6. अर्थशास्त्र-2/3/715-पृ.-157
7. अर्थशास्त्र-2/31/15 पृ. - 159
8. Kautiya's political Idea and Institution, R.K. Chaudhary-ch. 9-page-392
9. अर्थशास्त्र-1/14/18-पृ. - 64
10. प्राचीन भारत-एल. पी. शर्मा-पृ.-17
11. वही
12. राजतरंगिणी-व्याख्याकार-रामतेजशास्त्री पाण्डेय-पृ. 3-5
13. मुद्राराक्षस-परिशीलन-प्रो. चन्द्रकान्त शुक्ल-पृ.-VII, VIII
14. वही पृ.-XXI
15. वही पृ.-30
16. पाणिनिकालीन भारत-वासुदेवशरण अग्रवाल-पृ.-9
17. वही पृ.-88-89
18. वही पृ. 90-180
19. वही पृ.-196-250
20. पतंजलिकालीन भारत-डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ. 47-48
21. दिव्यावदान तथा प्रो. तारानाथ के अनुसार।
22. पतंजलिकालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ.-59
23. पतंजलिकालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ.-109-10
24. पतंजलिकालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ.-120-28
25. पतंजलिकालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ.-146
26. पतंजलिकालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ.-171
27. पतंजलिकालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ.-207
28. पतंजलिकालीन भारत - डॉ. प्रभुदयाल अग्निहोत्री-पृ.-268

29. कथासरित्सागर-केदारनाथ शर्मा सारसवत -प्र. भाग-पृ. 24-26
30. प्रा. भारत का इतिहास-डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी - पृ.-4
31. प्राचीन भारत-एल. पी. शर्मा-पृ.-16
32. वही- पृ. - 17
33. भारत का संविधान-एक विश्लेषण-पं. विद्यानन्द झा-पृ.-54।

(सहायक प्राध्यापक, इतिहास, रा. सं. सं. बलाहर कांगड़ा, हि. प्र.)

✦✦✦

हिन्दी भाषा और तत्सम् शब्दावली

–दिगपाल सिंह

संस्कृत भारतवर्ष की प्राचीनतम भाषा ही नहीं वरन् हिन्दी सहित समस्त आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की जननी भी है। परिवर्तनशीलता भाषाओं का सार्वभौमिक अभिलक्षण है और यही भाषाओं के जन्मने का कारण भी है, भाषा की यह परिवर्तनशीलता ही भाषा का विकास कहलाती है। **"भाषा में विकास या परिवर्तन उसके पाँचों ही रूपों-ध्वनि, शब्द, रूप, अर्थ और वाक्य-में होता है।**[1]

इन पाँचों रूपों में परिवर्तन से ही बोलचाल की संस्कृत 'पालि', बोलचाल की पालि 'प्राकृत' तथा बोलचाल की प्राकृत 'अपभ्रंश' बनी (और जब यही अपभ्रंश व्याकरण में बाँध दी गई तो बोलचाल की अपभ्रंश कालान्तर में हिन्दी भाषा के रूप में विकसित हुई।

हिन्दी भाषा के साहित्य का आविर्भाव लगभग 1000 ई0 के आस-पास से माना जाता है और तभी से तत्सम शब्दों का प्रयोग साहित्य में होना शुरू हो गया था। इस सन्दर्भ में 'हजारी प्रसाद द्विवेदी' लिखते हैं कि **"दसवीं शताब्दी की भाषा के गद्य में तत्सम शब्दों का व्यवहार बढ़ने लगा था, परन्तु पद्य की भाषा में तद्भव शब्दों का ही एकच्छत्र राज्य था।"**[2]

आचार्य शुक्ल भी अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं कि "कवियों ने काव्य परम्परा के अनुसार साहित्यिक प्राकृत के पुराने शब्द तो लिखे ही हैं (जैसे पीछे की हिन्दी में तत्सम संस्कृत शब्द लिये जाने लगे)[3]

हिन्दी साहित्य के आविर्भाव काल से ही इसमें चार तरह के शब्द मिलते हैं- तत्सम, तद्भव, देशी और विदेशी। यह सामान्य-सी बात है कि बोलचाल की भाषा में तद्भव शब्दों का प्रयोग होता है, जबकि साहित्यिक भाषा में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। तत्सम शब्दों के प्रयोग में एक भ्रान्त धारणा यह है कि इनका प्रयोग मुसलमानों के आक्रमण की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अधिक बढ़ा है। इस भ्रान्त धारणा का खण्डन कर 'रामविलास शर्मा' 'भाषा और समाज' में लिखते हैं **"संस्कृत के इस नवीन उत्थान का कारण मुसलमानों का आक्रमण न था। इसका कारण देश के सामाजिक जीवन की आन्तरिक आवश्यकताएँ थीं। संस्कृत द्वारा देश का एकीकरण व्यापारियों और बड़े सामन्तों के लिए आवश्यक था। संस्कृत द्वारा देश का जो सांस्कृतिक एकीकरण हुआ, वह पालि और अन्य प्राकृतों द्वारा नहीं हुआ, न शायद हो सकता था।"**[4]

हिन्दी भाषा संस्कृत से सीधे तौर पर नहीं जुड़ी है वरन् पालि, प्राकृत व अपभ्रंश

से होकर विकसित हुई। अत: वह अपभ्रंश से विकसित हुई भाषा है परन्तु उसने साहित्य रचना हेतु संस्कृत का अधिक सहारा क्यों लिया इस सन्दर्भ में 'राम विलास शर्मा' कहते हैं **"कारण था संस्कृत का साहित्यिक महत्व और बोलचाल की भाषाओं से उसका सम्बन्ध।"**[5]

हिन्दी, साहित्य की भाषा होने के साथ-साथ राजभाषा व माध्यम भाषा भी है। निरन्तर अस्तित्व में आयी नयी-नयी अवधारणाओं की अभिव्यक्ति हेतु भिन्न-भिन्न स्रोतों से शब्द गृहीत किये जाते हैं। इस कार्य हेतु संस्कृत का सर्वाधिक आश्रय लिया जाता है।

"साहित्यिक स्तर पर आकर और ज्ञान-विज्ञान का माध्यम बनते हुए हिन्दी को संस्कृत के तत्सम शब्दों का आश्रय सदा लेना पड़ा है- इस युग में भी और पिछले युगों में भी।"[6]

हिन्दी साहित्य के शुरूआत के समय जो तत्सम शब्द प्रयुक्त होते थे तथा आधुनिक काल के अनन्तर जो तत्सम शब्द प्रयुक्त किये गये उनके स्वरूप में अन्तर था।

"पहले-पहले संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपने समय की प्रचलित भाषा के अनुरूप गढ़ लिया जाता था किन्तु राजनीतिक जागृति, सांस्कृतिक उत्थान, शिक्षा के प्रसार.....राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा आदि आदि।"[7] के कारण उनका स्वरूप व मात्र बदल गई।

यों तो तत्सम शब्दावली और हिन्दी भाषा का प्रगाढ़ सम्बन्ध है परन्तु हर युग में गृहीत तत्सम शब्दावली की मात्र एक जैसी कभी नहीं रही। आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक की अवधि में सर्वाधिक संस्कृतनिष्ठ भाषा भक्तिकाल की रही। आदिकालीन भाषा में अपभ्रंश की ही शब्दसम्पदा अधिक थी किन्तु नवीन परिवर्तन गिनाते हुए, 'डॉ. भोलानाथ तिवारी', 'डॉ. नगेन्द्र' द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखते हैं कि इस समय तक **"भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ हो गया था, अत: अपभ्रंश की तुलना में तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी थी। मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पश्तो, फारसी तथा तुर्की भाषाओं से हिन्दी में आये।"**[8] आगे वे लिखते हैं कि **"भक्ति-आन्दोलन के चरम बिन्दु पर पहुँचने के कारण तत्सम शब्दों का अनुपात भाषा में और भी बढ़ गया।"**[9]

आधुनिक काल के साहित्य की शब्द-सम्पदा में अब काफी विविधता आ गई **"1850 से 1900 तक अंगरेजी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्य समाज के प्रचार-प्रसार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिन्दी से निकल गये। 1900 ई. के बाद द्विवेदी-काल तथा छायावाद-काल में अनेक कारणों से तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ना प्रारम्भ हो गया। इसके बाद प्रगतिवादी आन्दोलन के कारण तद्भव शब्दों के प्रयोग में पुन: वृद्धि हुई तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग में काफी कमी हुई।"**10

छायावाद के पश्चात बदलती परिस्थितियों की अभिव्यक्ति सीधी व सपाट भाषा में होने लगी तथा भाषा बोलचाल की ओर अधिकाधिक उन्मुख होने लगी। अब वे ही तत्सम शब्द प्रयुक्त होने लगे जो बहुप्रचलित थे तथा जिन्हें सभी लोग आसानी से समझ सकते थे, किन्तु ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रें के पारिभाषिक शब्द-निर्माण हेतु संस्कृत सहित अन्य भाषाओं की भी सहायता ली जाती है, जिससे हिन्दी भाषा की शब्द सम्पदा और अभिव्यंजना क्षमता समृद्ध से समृद्धतर हुई किन्तु हिन्दी के लिए शब्द-स्रोत का जो स्थान संस्कृत का है, वो स्थान और भाषाएँ नहीं ले सकती, इस महत्व को भोलानाथ तिवारी आँककर लिखते हैं **"हिन्दी भाषा अपने जन्म से ही संस्कृत भाषा से इतने अधिक शब्द लेती है कि उसका ठीक-ठीक लेखा-जाखा करना प्रायः असम्भव सा है।"**[11]

इसका कारण, संस्कृत का हिन्दी सहित आधुनिक आर्यभाषाओं से संम्बन्ध, उसका उत्कृष्ट भाषिक सौन्दर्य, व्यापकता और प्रौढ़ साहित्यिक परम्परा का होना है।

सन्दर्भः-

1. भाषा विज्ञान, डॉ. भोलानाथ तिवारी, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, 48वाँ संस्करण 2004, पृष्ठ 59
2. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण 1990, पृष्ठ.37
3. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, आठवा संस्करण 2012, पृष्ठ 1
4. भाषा और समाज, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण 1989, पृष्ठ 231
5. वही, पृष्ठ 237
6. हिन्दी : उद्‌भव, विकास और रूप, डॉ. हरदेव बाहरी, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रस्तुत सं0 2011, पृष्ठ 127
7. वही, पृष्ठ 127
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. डॉ. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. 1991, पृष्ठ 14
9. वही, पृष्ठ 15
10. वही, पृष्ठ 16
11. हिन्दी भाषा, डॉ. भोलानाथ तिवारी, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, पुनर्मुद्रित 2013, पृष्ठ 181-182

शोधार्थी, हे.न.ब.ग.वि.वि., (के.वि.वि.), श्रीनगर गढ़वाल, उत्तराखण्ड

✦✦✦

विद्यासागर नौटियाल के साहित्य में हिन्दी व संस्कृत का अंतः सम्बन्ध

–सविता मैठाणी

संस्कृत विश्व की श्रेश्ठतम तथा प्राचीनतम परिष्कृत भाषा है। आचार्य 'दण्डी' ने अपने 'काव्यादर्ष' में इसे 'देववाणी' कहा है। संस्कृत भाषा को देवभाषा, देववाणी, गीवणि वाणी आदि नामों से भी पुकारा गया है। भारत के ऋषि–मुनियों द्वारा चिन्तन–मनन तथा शोध व उसका विश्लेषण संस्कृत भाषा में ही किया गया है। यदि हम संस्कृत भाषा और साहित्य का अध्ययन करें तो हमें यहां पर संस्कृत के विद्वानों कालिदास, दण्डी, भामह, पतंजलि, पाणिनि, माघ, वामन तथा उद्भट् आदि के कला, साहित्य, दर्शन तथा व्याकरण के रूप में अक्षय भण्डार मिलता है। यही कारण है कि भारत को समझने के लिए कई विदेशी अध्येताओं ने संस्कृत भाषा का आश्रय लिया। फैडरिक मैक्समूलर ने संस्कृत भाषा हिब्रू भाषा से भी प्राचीनतम बताया है। उनके अनुसार "विश्व की प्राचीनतम भाषा हिब्रू नहीं संस्कृत है, जो सभी आर्यों की मूल भाषा है और संसार भर की आर्य भाषाओं में जितने भी शब्द हैं वे संस्कृत की सिर्फ पांच सौ धातुओं से निकलते हैं"[1] इस प्रकार से भारतीय ही न अपितु विदेशी अध्येताओं ने भी संस्कृत को विश्व की प्राचीनतम भाषा स्वीकार किया है। यह सभी भाषाओं की जननी है।

परवर्ती भाषाओं पर पूर्ववर्ती भाषा की अमिट छाप हमेशा विद्यमान रहती है। संस्कृत की परवर्ती भाषाओं पालि, प्राकृत और अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी भाषा पर पहुंचे तो इस सभी भाषाओं पर संस्कृत भाषा का गहरा प्रभाव परलक्षित होता है। संस्कृत भाषा जब अपने चरम उत्कर्ष पर थी, तब वह सामान्य जन की भाषा बनी। बौद्ध धर्म के उदय के साथ–साथ ही 'पाली' भाषा का विकास हुआ, उस समय में 'पाली' भाषा में बहुत ग्रन्थों की रचना हुई। बौद्ध भिक्षुओं के भ्रमण के साथ ही साथ पालि भाषा का भी विस्तार हुआ, पालि भाषा जब उच्च वर्ग की भाषा बन गयी, तब प्राकृत भाषा का उदय हुआ। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी ने इस भाषा को प्रोत्साहित किया। प्राकृत भाषा में साहित्य की रचना होने लगी तथा इस भाषा का व्याकरण भी बनाया गया। इसी भाषा से अपभ्रंश भाषा का प्रचार–प्रसार हुआ। अपभ्रंश में सर्वप्रथम साहित्य रचना विद्यापति पदावली में मिलती है। इस प्रकार से वैदिक भाषा, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, अवहट्ट, प्राचीन हिन्दी और आधुनिक हिन्दी इस क्रम से भाषा का विकास हमारे देश में होता चला आ रहा है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति मूल रूप से संस्कृत भाषा से ही हुई है।

सामान्यत: हिन्दी भाषा में संस्कृत भाषा के शब्द दो रूपों में पाए जाते हैं- तत्सम व तद्भव। तत्सम शब्द वे शब्द है जो संस्कृत भाषा से आये है, और जिन्हें बिना किसी भी प्रकार के परिवर्तन के स्वीकार किया गया है। उदाहरणत: सत्य, सूर्य। तद्भव शब्द वे शब्द हैं जिनका उद्गम तो संस्कृत भाषा है परन्तु अब वे अपने मूल रूप में न होकर परिवर्तित रूप में पाए जाते हैं। उदाहरण के रूप में हिन्दी का 'हाथ' शब्द संस्कृत के 'हस्त' शब्द से बना हुआ है।

विद्यासागर नौटियाल कथाकारों में सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने अपने साहित्य में संस्कृतनिष्ठ शब्दों का प्रयोग किया है। परन्तु इन्होंने बहुत ज्यादा क्लिष्ठ शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। इनकी भाषा सामान्य जन की भाषा है। संस्कृत के शब्दों का कफी मात्रा में प्रयोग किया है परन्तु ऐसे शब्दों का जो कि जन-सामान्य अच्छी तरह से समझ सके। आधुनिक युग के कथाकार होने के कारण उनकी भाषा में सरलता देखी जा सकती है, यथा - "काफूषाह जब सात-आठ वर्ष के थे तभी से उनको वैराग्य होने लगा था। देवी-देवताओं के मंदिरों में बैठे-बैठे हरि भजन करते रहना उन्हें अत्यन्त प्रिय था। उनकी ऐसी प्रवृति देखकर उनके पिता बहुत चिंतित रहते थे।"[2]

'टिहरी की कहानियाँ' कहानी संग्रह में वे 'फुलियारी' त्यौहार के बारे में सरल संस्कृतनिष्ठ भाषा में भावाभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं -

"ताजा फूलों की तलाश मे गांव के बच्चे बेतहाशा दौड़ रहे हैं, वे सूर्य के घोड़ों से होड़ ले रहे हैं। फुलियारी की रात का अंधियारा कौन दूर कर रहा है। सोते हुए गांव में यह गमकती हुई सुबह किसने खोल दी। सूर्य के घोड़े दौड़ रहे है कि गांव के नन्हें ग्वाले दौड़ रहे हैं। वे प्रकाश की किरणें फैला रहे हैं, वे खुशबू की लहरें बिखेर रहे हैं। वातावरण में बसन्त की मादक हवा का ज्वारभाटा उमड़ा है। वे फूलों का त्यौहार मना रहे हैं।"[3]

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत भाषा प्राचीन मानी गई। वैदिक एवं लौकिक संस्कृत भाषा प्राचीन मानी गयी। वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा जब सामान्य के लिए क्लिष्ट एंव दुर्बोध होने पर पालि, प्राकृत आदि भाषाएं प्रचलित हुई, संस्कृत भाषा की विभक्तियों का बाहुल्य और उनकी अनिवार्यता के नियम प्राकृत और अपभ्रंश में शिथिल होते गये। आधुनिक भारतीय भाषाएं निर्विभक्तिक होती गई। कारक, विभक्तियों के स्थान पर इनमें परसर्गों का व्यवहार होने लगा, ये सब नौटियाल जी के साहित्य में साफ झलकता है।

"कांसे की उस थाली में पानी भर दिया गया है। पंडित ने घंटी बजाने के बाद मंत्रोचारण किया और सतगंगा का पवित्र जल थाली में भर दिया। थाली में इता जल भरा कि उसमें जोन के समाने के लिए भी जगह बाकी न रह सके। जोन को उसी थाली के अन्दर रखकर रैमासी से चांदी ले जाया जाना था।"[4]

भाषा का विकास हर युग की अनिवार्य शर्त है। भाषा में जो भी अन्तर समय के अनुसार आता है साहित्य पर भी उसका असर पूर्ण रूप से पड़ता है। नौटियाल जी के

साहित्य पर भी यह बात पूर्ण रूप से लागू होती है–

"भैरू अकेला होता तो अपना पेट जैसे–तैसे भर लेता पर उसके पांच बच्चे जो थे। सबसे बड़े सिद्धा की उम्र अभी बारह वर्ष थी। जब सिद्धा बारह वर्ष का हुआ तो भैरों उसे खाने–कमाने की सलाह देता। कहता बेटा, बारह वर्ष की बेटी घर संभालती है और बारह वर्ष का बेटा तलवार थामता है।"[5]

संस्कृत भाषा हिन्दी की जननी है। हिन्दी भाषा में शब्द चार रूपों में पाए जाते है – तत्सम, तद्भव, देशज व विदेशज। नौटियाल जी के साहित्य में इन चारों रूपों के शब्दों की बहुलता देखने को मिलती है। उन्होंने संस्कृत के तत्सम शब्दों का यथोचित स्थान पर सार्थकता के साथ प्रयोग किया है। तद्भव शब्दों की तो पर्याप्त मात्रा में बहुलता देखने को मिलती है। उन्होंने अपने साहित्य में संस्कृत के उन शब्दों का प्रयोग किया है जो सरल तथा जन सामान्य की समझ में आसानी से आ जाते है।

इस प्रकार से विद्यासागर नौटियाल जी ने अपने साहित्य में संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग किया है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. 'संस्कृति' पत्रिका सं. – वीरेन्द्र यादव, पृ. 37
2. 'महाराजा काफूषाह का आत्मघात' पृ. 39
   टिहरी की कहानियाँ – कहानी संग्रह, विद्यासागर नौटियाल।
3. 'फुलियारी' पृ. 84
   टिहरी की कहानियाँ – कहानी संग्रह, विद्यासागर नौटियाल।
4. 'उत्तर बांया है' उपन्यास पृ. 298 विद्यासागर नौटियाल।
5. 'मछली जाल' पृ. 100
   टिहरी की कहानियाँ – कहानी संग्रह, विद्यासागर नौटियाल।

(शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, हे.न.ब.ग. विश्वविद्यालय,
बिड़ला परिसर, श्रीनगर गढ़वाल)

✦✦✦

हिन्दी पर संस्कृत का प्रभाव

–राजेश सिंह

भाषा प्रत्येक देश की संजीवनी शक्ति है, जिसके द्वारा न केवल साहित्य अपितु साहित्यगत् एवं साहित्येत्तर प्रत्येक विधा को प्राण वायु प्राप्त होती है। यह प्रत्येक देश को विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। हिन्दी भाषा का सौभाग्य है कि उसका जन्म देववाणी संस्कृत से हुआ है। यह वैज्ञानिक स्वरूप हमें वेदों की भाषा संस्कृत से ही प्राप्त हुआ है। संस्कृत संस्कार की भाषा है। संस्कृत को आदि भाषा और देवभाषा की संज्ञा से विभूषित किया गया है। जनश्रुति है कि संस्कृत भाषा, सृष्टि निर्माता ब्रह्मा जी के श्रीमुख से निःसृत है।

संस्कृत बड़ी चुस्त–दुरूस्त भाषा है। व्याकरण के नियमों से भलीभाँति सुसंस्कृत की गई है। प्रत्येक शब्द का रूप नियत है। यदि किसी शब्द के कई रूप हो सकते हैं तो वे भी नियत हैं। किसी शब्द के यदि दो रूप होते हैं तो तय है कि दो ही होंगे, तीन नहीं। इस भाषा का आश्रय करके ही प्राकृत और अपभ्रंश की रक्षा हुई है। हमारे देश की मनीषा का अद्‌भुत चमत्कार है। संसार की तथाकथित क्लासिकल भाषाओं में से कोई संस्कृत की ठीक समशील भाषा है या नहीं, शायद नहीं है। यह एक प्रकार से हमारी भारतीय वाङ्‌मय का मेरूदंड है। हिन्दी ने जब अपने शब्दों के लिए कसकर इस भाषा का आँचल पकड़ा जैसा कि उर्दू के सिवाय अन्यान्य भारतीय भाषाओं ने भी किया है–तो उसका रूप स्थिर हो गया। हमारे शब्दों के रूप में अब कोई शैथिल्य नहीं है। तद्‌भव शब्दों के बनने की भी एक परम्परा प्राप्त विधि है। संस्कृत इस विधान में भी हमारी सहायता करती है। जहाँ–जहाँ हमने संस्कृत का सहारा नहीं लिया था या लेना सम्भव नहीं हुआ वहाँ–वहाँ आज भी शिथिलता बनी हुई है। हमने संस्कृत के नियमों के अनुसार परसर्गो और विभक्तियों की स्थिति का निर्णय करने में ढिलाई की और आज भी इस विषय में अराजकता फैली हुई है। कहना नहीं होगा कि संस्कृत का सहारा हमारी भाषा के परिनिष्ठित रूप के लिए कितना महत्वपूर्ण रहा है। जाने–अनजाने में हम सदा संस्कृत के व्याकरण की सहायता से ही अपनी भाषा में व्यवहृत शब्दों का परिनिष्ठित रूप निर्धारित करते हैं। हिन्दी संस्कृत भाषा के शब्दों को अपनाने पर ही सारे देश की यथार्थ राष्ट्रभाषा होने का गौरव पा सकती हैं।[1]

भारत में आर्यभाषा का प्रारम्भ 1500 ई.पू. के आसपास से होता है। तब से आज तक भारतीय आर्यभाषा की आयु लगभग साढ़े तीन हजार वर्षो की हो चुकी है। भाषिक विशेषताओं के आधार पर भारतीय आर्यभाषा की इस लम्बी आयु को तीन कालों में बाँटा गया है–

1. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (1500 ई.पू.- 500 ई.पू.)
2. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा (500 ई.पू. - 1000ई)
3. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा (1000 ई. - अब तक)

भारतीय आर्यभाषा का प्राचीनतम् रूप वैदिक संहिताओं में मिलता है। इसमें रूपाधिक्य है, नियमितता की अपेक्षाकृत कमी है और अनेक प्राचीन शब्द हैं जो बाद में नहीं मिलते है। वैदिक संहिताओं का काल मोटे रूप में 1200 ई.पू. से 900 ई.पू. के लगभग है। यों वैदिक संहिताओं की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। कुछ की भाषा बहुत पूर्ववर्ती है, तो कुछ की परवर्ती। उदाहरणार्थ अकेले ऋग्वेद में ही प्रथम और दसवें मण्डलों की भाषा तो बाद की है और शेश पुरानी।

भाषा का विकसित रूप सूत्रों में मिलता है। इसका काल 700 ई.पू. से बाद का है। यह संस्कृत पाणिनीय संस्कृत के काफी पास पहुँच गई है, यद्यपि उसमें पाणिनीय संस्कृत की एकरूपता नहीं है। इसी काल के अन्त में, लगभग 5वीं सदी में, पाणिनि ने अपने व्याकरण में, उदीच्य में प्रयुक्त संस्कृत के रूप से, अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया, जो सदासर्वदा के लिए लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श बन गया। पाणिनी की रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है, किन्तु संस्कृत में साहित्य-रचना भी इसके समानान्तर ही होती चली आ रही है, जो मूलतः पाणिनीय संस्कृत होने पर भी हर युग की बोलचाल की भाषा का अनेक दृष्टियों से कुछ प्रभाव लिये हुए है, और यही कारण है कि बोलचाल की भाषा न होने पर भी, उस साहित्यिक संस्कृत में भी विकास होता आया है। भाषा के जानकारों से यह बात छिपी नहीं है कि रामायण, महाभारत की भाषा पाणिनी के बाद की है। पुराणों की भाषा और भी परवर्ती है फिर कालीदास से होते क्लैसिकल संस्कृत, हितोपदेश तक तथा और आगे तक आई है। इस प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के वैदिक और लौकिक संस्कृत दो रूप मिलते हैं।[2]

वैदिक संस्कृत (1500 ई.पू. से 800 ई.पू.)

संस्कृत का यह रूप वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा प्राचीन उपनिषदों आदि में मिलता है। यों इन सभी में भाषा का कोई एक सुनिश्चित रूप नहीं है। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, वैदिक साहित्य में इस भाषा का विकास होता दिखाई पड़ता है, फिर भी कुछ ध्वन्यात्मक एवं व्याकरणिक बातें ऐसी हैं जिनको वैदिक संस्कृत की सामान्य विशेषताएं माना जा सकता है।

ध्वनियाँ- मूल स्वर- अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ,

संयुक्त स्वर- ए, ऐ, ओ, औ,।

व्यंजन- क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स, श, ष, ह, ल् ल्ह। विसर्ग जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय ह के उपस्वनिम थे। अ, व, य, आदि कई अन्य के भी कई उपस्वनिम थे। ल् ल्ह मूर्धन्य पार्ष्विक प्रतिवेष्ठित थे।

स्वराघात

मूल भारोपीय भाषा में स्वराघात बहुत महत्वपूर्ण था। आरम्भ में वह बलात्मक था जिसके कारण मात्रिक अनुश्रुति विकसित हुई, किन्तु बाद में वह संगीतात्मक हो गया जिसने गुणिक अनुश्रुति को जन्म दिया। इस भाषा परिवार के विघटन के समय स्वराघात केवल उदात्त तथा स्वरित था। भारत-ईरानी स्थिति में अनुदात्त भी विकसित हो गया। इस प्रकार वैदिक संस्कृत को परम्परागत रूप से अनुदात्त, उदात्त एवं स्वरित तीन प्रकार के स्वराघात (संगीतात्मक) प्राप्त हुए थे। स्वराघात का इतना अधिक महत्त्व था कि सभी संहिताओं, कुछ ब्राह्मणों एवं आरण्यकों तथा बृहदारण्यक आदि कुछ उपनिषदों की पाण्डुलिपि स्वराघात-चिह्नित मिलती है और बिना स्वराघात के वैदिक छन्दों को पढ़ना अशुद्ध माना जाता है। स्वराघात के कारण शब्द का अर्थ भी बदल जाता था। 'इन्द्रशत्रु' वाला प्रसिद्ध उदाहरण सर्वविदित है : इन्द्र/शत्रु = जिसका शत्रु इन्द्र है (बहुब्रीहि) इन्द्रशत्रु = इन्द्र का शत्रु (तत्पुरुष) शब्द आदि के अर्थ जानने में स्वराघात का कितना महत्त्व था, यह वेंकट माधव के 'अंधकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रवीतानां भवत्यर्थाः स्फुटा इव' अर्थात् जैसे अन्धकार में दीपकों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता, इसी प्रकार स्वरों (स्वराघात) की सहायता से किए गए अर्थ स्फुट अर्थात् संदेहशून्य होते हैं। कथन से स्पष्ट है स्वराघात में परिवर्तन से कभी-कभी लिंग में भी परिवर्तन हो जाता है। टर्नर के अनुसार, वैदिक संस्कृत में संगीतात्मक एवं बलाघात दोनों ही स्वराघात था।[3]

रूप-रचना

वैदिक भाषा में तीन लिंग थे-पुल्लिंग, स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग। वचन भी तीन थे- एकवचन, द्विवचन, बहुवचन। कारक विभक्तियां आठ थी- कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण, सम्बोधन विशेषणों के रूप भी संज्ञा की तरह चलते थे। मूल भारोपीय में सर्वनाम के मूल या प्रातिपादक बहुत अधिक थे। विभिन्न बोलियों में कदाचित् विभिन्न मूलों के रूप चलते थे। पहले सभी मूलों से सभी रूप बनते थे, किन्तु बाद में मिश्रण हुआ और अनेक मूलों के अनेक रूप लुप्त हो गए परिणाम यह हुआ कि मूलतः विभिन्न मूलों से बने रूप एक ही मूल के रूप माने जाने लगे। वैदिक भाषा में उत्तम पुरूष में ही यद्यपि प्राचीन पण्डितों ने 'अस्मद्' को सभी रूपों का मूल माना है, किन्तु यदि ध्यान से देखा जाये तो अह-(अहम्) म (माम्, मया, मम, मयि), आव (आवम्, आवाम्, वाम् आवयोः) वय (वय), अस्म (अस्माभिः, अस्मभ्यम्, अस्मैं, आदि) इन पाँच मूलों पर

आधारित रूप हैं। मध्यम आदि अन्य सर्वनामों में भी एकाधिक मूल हैं। वैदिक भाषा में धातुओं के रूप आत्मने तथा परस्मै दो पदों में चलते थे। कुछ धातुएँ आत्मनेपदी, कुछ परस्मैपदी एवं कुछ उभयपदी थी। आत्मनेपदी रूपों का प्रयोग केवल अपने लिए होता था तथा परस्मै का दूसरों के लिए। क्रियारूप तीनों वचनों (एक, द्वि बहु) एवं तीनों पुरूषों (उत्तम, मध्यम, अन्य) में होते थे। काल तथा क्रियार्थ मिलाकर क्रिया के कुल 11 प्रकार के रूपों का प्रयोग मिलता है : लट्, लङ्, लिट् लुङ्, लुट, निश्चयार्थ, सम्भावनार्थ (लेट्) विध्यर्थ, आदरार्थ अज्ञार्थ तथा आज्ञार्थ (लोट्)। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में लेट् का प्रयोग बहुत मिलता है, किन्तु धीरे-धीरे इसका प्रयोग कम होता गया और अन्त में लौकिक संस्कृत में पूर्णत: सम्भावनार्थ या निश्चयार्थ का प्रयोग मिलता है।[4]

समास

समास रचना की प्रवृत्ति मूल भारोपीय एवं भारत-ईरानी में थी। वहीं से यह परम्परा वैदिक संस्कृत में आई। वैदिक समस्तपद प्राय: दो शब्दों के ही मिलते है इससे अधिक शब्दों के समास अत्यन्त विरल है। जहाँतक समास के रूपों का प्रश्न है, वैदिक में केवल तत्पुरूष, कर्मधारय, बहुब्रीहि एवं द्वन्द्व ये चार समास मिलते हैं।[5]

शब्द

वैदिक भाषा में शब्दों की दृष्टि से दो बातें उल्लेख्य हैं। एक तो यह कि अनेक तथाकथित तद्भव या मूल शब्द से विकसित शब्द प्रयुक्त होने लगे। वेद में 'इह' (यहाँ) इसी प्रकार का है। इसका मूल शब्द 'इध' है। पालि 'इधों' और अवेस्ता 'इद' इसी बात के प्रमाण हैं कि महाप्राण व्यंजन के स्थान पर 'ह' के विकास से 'इध' से ही 'इह' बना है। कट (मूल शब्द कृत), एकादश (मूल एकदश) भी इसी प्रकार के शब्द है। 'विंशति' भी मूलत: 'द्विंशति' रहा होगा यद्यपि यह विकार भारत में आने के पहले ही आ चुका था। शब्दों की दृष्टि से दूसरी विशेषता यह है कि उस काल में ही भाषा में अनेक आर्येत्तर शब्दों का आगमन होने लगा था। उदाहरण के लिए, वैदिक भाषा में अणु, अरणि, कपि, काल, गण, नाना, पुष्कर, पुष्प, मयूर, अटवी, तंडुल, मर्कट आदि शब्द एक ओर यदि द्रविड़ से आए हैं, तो वार, कंबल, बाण, कोसल (स्थानवाची नाम), अंग (स्थानवाची नाम) आदि ऑस्ट्रिक भाषा से।[6]

बोलियाँ

ब्राह्मण ग्रन्थों से पता चलता है कि वैदिक काल में प्राचीन आर्यभाषा के कम से कम तीन रूप- या तीन बोलियाँ अवश्य थी- पश्चिमोत्तरी, मध्यवर्ती, पूर्वी। पहली अफगानिस्तान से लेकर पंजाब तक थी, दूसरी पंजाब से मध्य उत्तर प्रदेश तक तथा तीसरी उसके पूर्व।[7]

लौकिक संस्कृत (800 ई.पू. से 500 ई.पू. तक)

भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' (संस्कार की गई, शिष्ट या अप्रकृत) शब्द का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि रामायण में मिलता है। वैदिक काल में भाषा के तीन भौगोलिक रूपों- उत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी का उल्लेख किया जा चुका है। लौकिक संस्कृत का मूल आधार इनमें उत्तरी बोली थी, क्योंकि वही प्रामाणिक मानी जाती थी। यों पाणिनि ने अन्यों के भी कुछ रूप आदि लिये हैं और उन्हें वैकल्पिक कहा है। इस प्रकार मध्यदेशी तथा पूर्वी का भी संस्कृत पर कुछ प्रभाव है। लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत साहित्यिक भाषा है।

लौकिक संस्कृत उससे मूलतः बहुत अधिक भिन्न नहीं है। वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत में अन्तर निम्नवत हैं-

1. वैदिक भाषा का, लौकिक की तरह मानकीकरण नहीं हुआ था, इसी कारण लौकिक, जिस रूप में एकरूप एवं साहित्यिक है, वैदिक नहीं।
2. वैदिक में जहाँ मानकीकरण एवं नियमन न होने से रूप की जटिलताएं हैं, अनेकरूपताओं एवं अपवादों का आधिक्य है, लौकिक में वे या तो हैं ही नहीं, या हैं भी तो वैदिक की तुलना में बहुत ही कम।
3. वैदिक में 'ऌ' 'ॠ' 'ॡ' के उच्चारण स्वरवत् होते थे। संस्कृत में आकर ये कदाचित 'लि', 'रि', 'री' जैसे उच्चरित होने लगी थी।
4. ऐ, औ, का उच्चारण वैदिक में, आइ, आउ थे किन्तु लौकिक संस्कृत में ये 'अइ', 'अउ' हो गए।
5. ए, ओ, का उच्चारण वैदिक में 'अइ', 'अउ' था ये संयुक्त स्वर थे, किन्तु संस्कृत में ये मूल स्वर हो गए।
6. लेखन में व ल, ल्ह अक्षर समाप्त हो गए और इनके स्थान पर, ड, ढ प्रयुक्त होने लगे।
7. कई ध्वनियों के उच्चारण स्थान में अन्तर आ गया। उदाहणार्थ- प्रातिशाख्यों से पता चलता है कि वैदिक त वर्ग ल् स् दंतमूलीय थे किन्तु संस्कृत में 'लृतुलसानांदन्ता) में दंत्य हो गए।
8. वैदिक में संगीतात्मक स्वराघात था। जबकि लौकिक संस्कृत में संगीतात्मक स्वराघात के स्थान पर कदाचित् बलात्मक स्वराघात विकसित हो गया।
9. क्रियारूपों में कुछ प्रमुख अन्तर निम्नवत हैं।

   वैदिक में लकारों में विशेष प्रतिबन्ध नहीं है। लुङ्, लङ्, लिट् में परोक्षादि का भेद नहीं है। यहाँ तक कि कभी-कभी इनका कालेतर प्रयोग भी मिलता है। किन्तु संस्कृत में ऐसा नहीं है। वैदिक का लेट् लौकिक में नहीं है, यद्यपि उसके उत्तम

पुरूष के तीन रूप लौकिक के लोट् में आ गए हैं। वैदिक में लङ्, लुङ् लृङ् में भूतकरण अ नही मिलता, यद्यपि लौकिक में यह आवश्यक है। वैदिक में लिट् वर्तमान के अर्थ में था, किन्तु लौकिक में वह परोक्ष भूत के लिए आता है।

10. समासों में सबसे बड़ा अन्तर तो यह आया कि वैदिक में बहुत बड़े-बड़े समास बनाने की प्रवृत्ति नहीं थी, क्योंकि उस भाषा में कृत्रिमता नहीं है, किन्तु संस्कृत में कृत्रिमता के विकास के कारण बड़े-बड़े समस्तपद भी बनने लगे। ऐसे वैदिक में केवल चार समास थे किन्तु लौकिक में दिगु और अव्ययीयाव भी प्रयुक्त होते हैं।

11. मूल भारोपीय भाषा में उपसर्ग वाक्य में कहीं भी आ सकता था, क्रिया के साथ उसके लिए आवश्यक नहीं था। वैदिक में भी यह स्वच्छन्दता पर्याप्त मात्रा में मिलती है। लौकिक संस्कृत में उपसर्ग की यह स्वच्छन्दता नहीं मिलती।

बोलियाँ-वैदिक भाषा के प्रसंग में पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशीय तथा पूर्वी ये तीन बोलियाँ थी लौकिक संस्कृत में अनुमानत: आर्यभाषा-भाषी प्रदेश में कदाचित् एक दक्षिणी रूप भी जन्म ले चुका था।

हिन्दी

भाषा नदी की धारा की तरह निरन्तर, प्रवाहमान सहस्त्रों वर्षों के ज्ञान, विज्ञान, दर्शन एवं संस्कृति को समाहित किए हुए गतिशील रहती है। ज्ञात स्रोतों से विदित होता है कि हिन्दी भाषा का आधुनिक रूप हजारों वर्षों के निरन्तर, विकास यात्रा का परिणाम है। हिन्दी देवभाषा संस्कृत की उत्तराधिकारिणी है। बीम्स महोदय ने हिन्दी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए यह भी लिखा है कि "हिन्दी संस्कृत की वास्तविक उत्तराधिकारिणी है और आधुनिक युग में इसका अन्यान्य भाषाओं में वही स्थान है, जो प्राचीनकाल में संस्कृत का था।"[8]

हिन्दीभाषा की विशेषताएँ

1. हिन्दी भाषा संस्कृत पर आधृत है लेकिन इसने संस्कृत का अंधानुकरण नहीं किया, इसकी अपनी प्रकृति है। हिन्दी ने संस्कृत वर्णमाला और उच्चारण को अपनाया है। संस्कृत वाङ्मय देवनागरी लिपि में लिखित है। हिन्दी ने भी देवनागरी लिपि को अपनाया है। अत: स्पष्ट है कि हिन्दी-व्याकरण संस्कृत व्याकरण पर आधृत होते हुए भी अपनी कुछ स्वतंत्र विशेषताएँ रखता है। पं. किशोरी दास वाजपेयी ने लिखा है कि-"हिन्दी ने अपना व्याकरण प्राय: संस्कृत व्याकरण के आधार पर ही बनाया है- क्रियाप्रवाह एकांत संस्कृत व्याकरण के आधार पर है पर कही-कही मार्ग भेद भी है। मार्गभेद वहीं हुआ है, जहाँ हिन्दी ने संस्कृत की अपेक्षा सरलतम् मार्ग ग्रहण किया है।"[9]

2. हिन्दी भाषा में 52 वर्ण हैं, जिनमें-

स्वर - 11, स्पर्शव्यंजन- 25, अन्तस्थव्यंजन - 4, अन्य व्यंजन- 4, संयुक्त व्यंजन - 4, द्विगुण व्यंजन - 2 (ड़, ढ), अनुस्वार (.) विसर्ग (:), संस्कृत भाषा में द्विगुण व्यंजन नहीं थे।

3. हिन्दी के सर्वनामों पर प्राकृतों तथा अपभ्रंशों का प्रभाव है क्योंकि ये वहीं से घिसते-बनते आए हैं। इनकी अपनी विशेशताएँ हैं। हिन्दी के सर्वनाम चाहे पुरूषवाचक हों या प्रश्नवाचक सभी अपनी विशेषताएँ लिए हुए हैं। संस्कृत में केवल 'युष्मद्-अस्मद्' ही सब लिंगों में समानरूप में प्रयुक्त होते हैं, शेष सभी सर्वनाम अपने रूप बदलते हैं। हिन्दी ने इन झंझटों को दूर कर दिया है।[10]

4. हिन्दी के कुछ अव्यय संस्कृत से आए हैं और कुछ अपने हैं, जो अपनी विशेषता लिए हुए हैं। संस्कृत के 'यदा-कदा', 'इतस्तत:', यत्र-तत्र, यदि, कदाचित् आदि। हिन्दी में जब-तब, इधर-उधर, जहाँ-तहाँ इत्यादि अव्यय अपने हैं।[11]

हिन्दी भाषा संस्कृत की उत्तराधिकारिणी है एवं दोनों की लिपि एक होने के कारण देवनागरी लिपि की वैज्ञानिकता इन्हें स्वत: प्राप्त हुई है। भाषा के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य पर भी संस्कृत का प्रभाव प्रतिबिम्बित है। हिन्दी साहित्य का इतिहास साक्षी है कि जितने भी हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार हुए हैं, उनमें संस्कृत का प्रभाव अवश्य रहा है। तुलसी, कबीर, सूरदास, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद आदि इसके साक्षात् प्रमाण हैं।

निष्कर्षत: संस्कृत और हिन्दी में अन्तर्सम्बन्ध है। संस्कृत, हिन्दी की आदि जननी है तो हिन्दी, संस्कृत की उत्तराधिकारिणी। अतीत, वर्तमान को प्रभावित करता है, तो वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। अतीत और वर्तमान का यही अन्तर्सम्बन्ध भविष्य के विकास की आधारशिला रखता है। आदि काव्य 'वाल्मीकि रामायण' और तुलसीदास कृत 'रामचरित मानस' दोनों में अन्तर्सम्बन्ध है। यदि 'रामचरित मानस' में वाल्मीकि रामायण का प्रभाव है तो रामचरित मानस में वाल्मीकि रामायण के दिव्य वर्णो की छटा प्रतिबिम्बित होती है और वर्तमान समयमें जो व्यक्ति या समाज इनके अन्तर्सम्बन्ध को आत्मसात् करेगा वह भविष्य में अवश्य ही सफलता के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान होगा। अन्तत: संस्कृत और हिन्दी के अन्तर्सम्बन्ध में कह सकते हैं कि संस्कृत समस्त आर्य भाषाओं का गौमुख हैं तो हिन्दी, भारतीय संस्कृति की पवित्रता को गतिशील बनाये हुए गंगा है। हम सभी को इस अन्तर्सम्बन्ध को आत्मसात करते हुए अपनी भाषा को व्याकरण सम्मत बनाकर संस्कृत भाषा की जीवन्तता को सदैव जीवित रखना है। हिन्दी जब तक अपनी जड़ों से जुड़ी रहेगी तभी तक उसका वर्चस्व जीवित रहेगा क्योंकि जड़ों से टूटकर कोई भी भाषा अपना स्वर्णिम इतिहास कदापि निर्मित नहीं कर सकती।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. विश्व भाषा हिन्दी (संस्कृति और समाज) – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 58
2. हिन्दी भाषा – डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 9
3. हिन्दी भाषा – डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 10
4. हिन्दी भाषा – डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 10
5. हिन्दी भाषा – डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 10
6. हिन्दी भाषा – डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 10
7. हिन्दी भाषा – डॉ. भोलानाथ तिवारी, पृ. 12
8. आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना– डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद, पृ. 7
9. आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना– डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद, पृ. 11
10. आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना– डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद, पृ. 12
11. आधुनिक हिन्दी व्याकरण और रचना– डॉ. वासुदेवनन्दन प्रसाद, पृ. 13

(शोधार्थी, जे.आर.एफ. हे.न.ब. गढ़वाल केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
श्रीनगर गढ़वाल, उत्तराखण्ड)

✦✦✦

फोटो पत्रकारिता का मीडिया से सम्बन्ध

–डॉ. राजेश्वरी चौधरी

यदि पत्रकारिता को मानव संस्कृति के भाषा – आविष्कारों से जोड़ सकते हैं' तो चित्रकला के प्रादुर्भाव को भी पत्रकला की आदिम सज्जा से जोड़ें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

जब पुरातत्त्वविद किसी गुफा में चित्र प्राप्त करता है तो उसके साथ कुछ सन्देश भी प्राप्त करता है। जिसे पुरातत्व विज्ञानी ही पढ़ सकते हैं और इतिहास वेता ही उसकी व्याख्या कर सकते है।

सम्भवत: ऐसे चित्रांकनों का कुछ न कुछ सामयिक तथा महत्व सन्देश भी रहा होगा।

कालान्तर में मनुष्य ने चित्रकला को उसी प्रकार समृद्ध किया जिस प्रकार लेखन कला को । अत: लेखन कला और चित्रकला का बहुत पुराना साथ है। मुगलकाल के ग्रंथों पर हासिये पर चित्रों का सृजन किया जाता था। भारतेन्दु युग में पंड़ित बालकृष्ण भटट् ने पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक कई नाटकों की रचना फोटो पत्रकारिता को माध्यम बनाकर ही की थी। जिसका मंचन आज भी किया जाता है।

वर्तमान के पत्रकारों को फोटोग्राफी में दक्ष होना अति आवश्यक हो गया है। पत्रकार घटना का विवरण बाद में टेप करता है या लिखता है पहले उसे कैमरे की ऑख में कैद करने की तत्परता दिखाता है।

पत्र–पत्रिकाओं में चित्रकला का आरम्भ रेखाचित्रों से हआ था। चित्रकारों द्वारा रेखाचित्र बनाए जाते थे। रेखाचित्रों की उपस्थिति समाचारों के बोझ को हल्का करती थी। प्रसाद जी के सम्पूर्ण नाटकों को पढ़ने से मौर्यवंश, गुप्तकालीन भारतीय समाज को समझने में ध्रुवस्वामिनी नाटक भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जो नाटक में घटनाओं, पात्रों वेश– भूषा भाषा, संवाद, शैली मंच सज्जा सभी फोटोपत्रकारिता का ही स्वरुप है।

जैसे – धुवस्वामिनी रामगुप्त से संवाद करती है – "इस प्रथम संभाषण के लिए मैं कृतज्ञ हुई हूॅ महाराज! किन्तु मैं यह जानना चाहती हूॅ कि गुप्त साम्राज्य क्या स्त्री संप्रदाय से ही बढ़ा है।"[1]

क. आंगिक, शारीरिक चेष्टाओं द्वारा'

ख. वाचिक' वाणी द्वारा

ग. सात्विक' विविध हाव – भाव द्वारा'

घ. आहार्य – वेश भूषा' श्रृंगार और सज्जा द्वारा।

फोटो पत्रकारिता को आसानी से समझा जा सकता है।

सम्वाददाता को चित्र सहित एक शब्दचित्र अंकित करना आवश्यक होता है । उसकी लेखनी को पूरी तरह से समझने में सक्षम हो। नीरस, अनाकर्षक चित्र भी उसी प्रकार समाचार पर कुप्रभाव डालते हैं, जैसे – अनाकर्षक समाचार लेखन समाचार को नष्ट कर देता।

फोटोपत्रकारिता का महत्व दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। इसने समाचार पत्रों की गुणवत्ता को कहॉ से कहॉ पहुँचा दिया है। रंगीन चित्र आने से फोटो पत्रकारिता का महत्व बढ़ गया है।

आजकल जनसंचार के सबसे सशक्त और लोकप्रिय माध्यम के रुप में चलचित्र और दूरदर्शन का अपना विशिष्ट स्थान है

इस माध्यम की कुछ विशेषताएं भी हैं' जिनके कारण यह साधन चमत्कारिक कौतुहलवर्धक एवं अपने संचार क्षेत्र में दिक्' काल की सीमाओं को पार कर गया है।

इस माध्यम से अतीत और भविष्य को वर्तमान से जोड़ा जा सकता है। फिल्म की भाषा में इसे फ्लैशबैक और फ्लैश फॉरवर्ड कहा जाता है।

जनसंचार के माध्यमों में फोटो पत्रकारिता का ही महत्व है जैसे – "घर आया मेरा परदेशी।"[2]

और जेल से एक कैदी निकलता हुआ दिखता है। दूर बच्चों और पत्नी को देखकर उनसे आतुरता से मिलने के लिए दौड़ता है। पत्नी कहती है एक तो खुद चले गए और दूसरे में मेरा मुबाइल भी साथ लेकर चले गए!!।

वह पति से नहीं बल्कि मुबाइल से प्यार करती है। ऐसी स्त्रियां संसार में बहुत मिल जायेंगी जिन्हें पति से नहीं मुबाइल से प्यार है। भारत में चित्रों का प्रचलन काफी पुराना है। आज से लगभग एक शताब्दी पहले ही चित्र बहुत लोकप्रिय थे' परन्तु "भारतीय प्रेस" फोटो पत्रकारिता के प्रयोग से पूरी तरह अनभिज्ञ थे।

कार्टून चित्र पत्रकारिता से जुड़ी हुई सम्पादकीय कार्टूनकारी भी है। कार्टूनकला चित्रकला की जननी है। कार्टून की सहायता से कभी किसी महत्वपूर्ण घटना या समाचार को और प्रभावी बनाया जा सकता है' या राजनीतिक' सामाजिक' आदि गति विधियों या व्यक्तियों पर व्यंग्य किये जाते हैं जो प्रभावकारी व मनोरंजनकारी होते हैं।

कार्टून का शाब्दिक अर्थ है – ऐसा चित्र जिसे देखकर हास्य उत्पन्न हो या जो किसी को लक्ष्य कर व्यंग्योक्ति जनित हो।"[3]

भारत में "शंकर" एक महान कार्टूनकार थे' उनकी पत्रिका कार्टून पर ही निकलती थी – नाम था "शंकर्स वीकली" शंकर ऐसे चित्रकार थे वह अपनी व्यंग्य कला से आपातकाल को भी पार कर लेते थे। एक बार जब वह ऑल इण्डिया न्यूज पेपर्स एडिटस

कॉन्फ्रेंन्स के सम्मेलन में उपस्थित थे तब कमान्डर इन चीफ आकिनलेक वहॉ आए' उनका शंकर से परिचय हुआ' तो उन्होंने शंकर से कहा - "मुझे अच्छी तरह देख लो इससे तुम्हें मेरा कार्टून बनाने में सुविधा मिलेगी।"[4]

फोटोपत्रकारिता के अन्तर्गत रेखाचित्र ग्रैफिक्स एवं दृश्य सामग्री सभी आती है। जैसे-नाटक एकांकी का मंचन व्यक्ति सबसे अधिक आतुर फोटो को कैमरे में कैद करने के लिए ही दिखता है। समाचार बाद में पहले फोटो खिंचवाने की आतुरता दिखती है। प्रश्न यह भी उठता है कि जहॉ चित्र आता है शब्द का क्या महत्व है?

प्राय: देखा गया है कि शब्द और चित्र के संघर्ष में चित्र की विजय होती है और शब्द हार जाता है।

फोटो पत्रकारिता ने समाचार पत्रों की गुणवत्ता को बहुत आगे पहुॅचा दिया है। जितनी रुचि समाचारों की होती है उससे अधिक रुचि चित्रों में दिखती है। चित्रों से आकर्षण पैदा होता है। फिल्म अभिनेता, अभिनेत्रियों तथा खेल समाचारों में नर - नारी खिलाड़ियों, फैशनशो की कमनीय नारियों आदि के आकर्षक चित्रों से समाचार पत्रों का व्यसायिक क्षेत्र विकसित होता है। फोटोपत्रकारिता के बिना समाचारपत्र एक पग चल भी नहीं सकते हैं।

बड़े - बडे नेता, अभिनेता, विद्वान वैज्ञानिक आदि को अपने आकर्षक चित्रों को देखने की बड़ी होड़ मची रहती है। अर्थात् स्पर्धा होती है।

बहुत से लोग यह भी शिकायत करते हैं कि हमारा अच्छा चित्र नहीं छापा गया था, या उनका चित्र छापा ही नहीं गया आदि।

"अंग्रेजी पत्रकारिता के नये गुरु यूजीनएल राबर्टस ने फोटोग्राफी में अधिक धन और ध्यान लगाकर अपने पत्र "फिलेडेफिया एक्वायरर" को चित्रकला पत्रकारिता के एक दीप्तमान उदाहरण के रुप में प्रस्तुत किया था"[5]

फोटोग्राफी और पत्रकारिता के घनिष्ट सम्बन्ध को उन्होंने बहुत पहले पहचान लिया था। आज एक ही बार में कई रंगों के चित्र छाप सकते हैं।

अत: समाचार पत्रों में अधिक से अधिक चित्रों की संख्या देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। कई वर्ष पहले हिन्दू का अन्तिम पृष्ठ चित्रों से आच्छादित रहता था।

पत्रकार के पास कैमरा, पोर्टेबल, टाइपराइटर, टेपरिकार्डर, अवश्य रहना चाहिए तथा उसे आशुलेखन में प्रवीण होना चाहिए।

फोटोपत्रकारिता का स्वरुप नित नये - नये आविष्कार में दिख रहा है।

सामान्यत: मीडिया का अर्थ है - 'संचार तंत्र' अर्थात् समाचार और सन्देश प्रसारण का तंत्र।

Media शब्द का जन्मदाता शब्द है - medium मीड़िया इसी शब्द का बहुवचनीय रुप है।

आरम्भ में समाचार या सन्देश प्रसारण के माध्यम थे - दूरभाष (टेलीफोन) तार (टेलीग्राम) समाचार पत्र रेड़ियो (आकाशवाणी) टेलीविजन (दूरदर्शन) सिनेमा (चलचित्र) अत: यह सभी संचारतंत्र चूँकि समाचार सन्देश के माध्यम थे। अंग्रेजी शब्द मीड़िया में रुपान्तरित हो गए।

इसी क्रम में संचारतंत्र ने इलैक्ट्रनिक और अन्तरिक्ष विज्ञान के युग में प्रवेश किया। जिन्होंने संचारतंत्र को नये आयाम दिए, अत: इसके व्यापक और विराट संचारतंत्र जिसने कम्प्यूटर से जुड़कर अपने स्वरुप को ब्रह्माण्डीय रुप दे दिया था।

इस प्रकार मल्टीमीडिया के अंग बन गए - दूरदर्शन, आकाशवाणी, दूरभाष, तार, फैक्स, अन्त:जाल, स्पीकर केबल, कम्प्यूटर, डाकप्रणली, चलचित्र।

वर्तमान युग में मल्टी मीड़िया ने सांस्कृतिक और सामाजिक संक्रमण में बहुत बड़ी भूमिका का निर्वाह कर दिया है। ज्ञान के क्षेत्रों का विकास विश्व - स्तर पर हो गया है। संसार की हर सूचना को इंटरनेट दे रहा है । प्रत्येक देशों से बैठे लोगों के साथ खूब गपशप कर रहे हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र ने तो इतना व्यापक रुप ले लिया है कि दूरदर्शन पर समाचार वाचक हमें सीधे समाचार क्षेत्र के दर्शन भी करा देता है।

मल्टीमीडिया का प्रबल रुप अन्तरिक्ष जनसंचार के रुप में प्रकट हुआ है। अभी तक सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाले दो प्राकृतिक उपग्रह थे, लेकिन आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी की कक्षा में कक्षीय भू स्थिर उपग्रह प्रक्षेपण करके संचार क्षेत्र को यह वरदान दे दिया। इन उपग्रहों के द्वारा समुद्र विज्ञान, मौसम विज्ञान, मत्स्य पालन विज्ञान, सूखा और बाढ़ की स्थिति, प्राकृतिक संसाधनों सम्बन्धी सामाजिक सूचनाओं को प्राप्त करना सुलभ हो गया है।

"उपग्रह एपल" के सहारे 13 अगस्त 1981 को भारतीय दूरदर्शन के इतिहास में एक अनोखी घटना अवतरित हुई। इसी उपग्रह के माध्यम से दिल्ली, मुंम्बई, चेन्नई तथा तीन अन्य महानगरों में हजारों लोगों ने दूरदर्शन पर देखा कि-"प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी दिल्ली दूरदर्शन के स्टूडियों से अहमदाबाद के वैज्ञानिकों से इस प्रकार वार्तालाप कर रही थी जैसे - वह एक प्रत्यक्ष वार्तालाप हो।"[6]

अन्तत: यही कहा जा सकता है कि वर्तमान का समय इतनी तीव्रता से गमन कर रहा है' कि समय को पकड़ना अब मुस्किल है । बहुत कम समय है उतने में हमें कई कठिन चुनौतियों से गुजरना पड़ता है। जिसमें जीवन की पुस्तकें किसी की बनती है!! तो किसी की अधूरी रह जाती है'। वैसे यह कार्य चुनौतियों भरा है मगर इस वैज्ञानिक युग में कुछ भी असम्भव नहीं है।

सन्देशों और समाचारों का प्रसारण मुबाइल व दूरभाष पर देखा जा रहा है। यदि किसी

सेमिनार में भाग लेना है तो वहाँ जाने की भी अब आवश्यकता नहीं है, इंटरनेट से सम्पर्क साध रहे हैं। बिना कागज पत्रों के कार्यालय को आसानी से चला सकते हैं।

ई – मेल की तरह ई – कॉमर्स लोकप्रिय होता जा रहा है सारा कार्य इलैक्ट्रो कॉमर्स के माध्यम से होने लगा है।

विज्ञान दिन प्रतिदिन नई – नई उपलब्धियाँ हासिल कर रहा है। आर्थिकी भी मजबूत बनती जा रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. डॉ. रीतारानी पालीवाल, हिन्दी नाटक, पृ. 14
2. डॉ. विनोद गोदरे, प्रयोजनमूलक हिन्दी, पृ. 200
3. डॉ. जगदीश शर्मा, पत्रकारिता प्रशिक्षण, पृ. 174
4. डॉ. जगदीश शर्मा, पत्रकारिता प्रशिक्षण, पृ. 174
5. डॉ. जगदीश शर्मा, पत्रकारिता प्रशिक्षण, पृ. 173
6. डॉ. जगदीश शर्मा, पत्रकारिता प्रशिक्षण, पृ. 243

(अंशकालिक अध्यापिका – हे.न.ब.ग. विश्वविद्यालय, श्रीनगर)

✦✦✦

कृष्णा सोबती के उपन्यासों में स्त्री विमर्श

–डॉ. रजनी रौथाण

"स्त्री पुरुष प्रधान समाज की एक कृति है, वह अपनी सत्ता को बनाये रखने के लिए स्त्री को जन्म से ही अनेकों नियमों के ढाँचे में ढालता चला गया है।"

भारतीय परम्परा और आधुनिकता ने विश्व चिन्तन मे समग्रता वादी, वर्चस्वादी, पुलिंगी विमर्श के केन्द्रवाद, प्रभुत्व का चुनौती देते हुए उन महावृत्तातों को ध्वस्त किया है, जो आज तक साहित्य शास्त्र में छाये हुए थे अब तक हाशिए में धकेले गये। जिन लोगों के पास कोई बैचारिक पूँजी नहीं वही लोग बिना पढ़े-लिखे स्त्री विमर्श में से उठने वाले प्रश्नों को खारिज करने में जुटे हुए हैं। 'चूकि उनका धंधा अब समस्याग्रस्त और संकट में है, आधुनिकता और विमर्श के लाख विरोधी चाहें तो इनको समाप्त नहीं कर सकते।

नारीवादी विमर्श ने विश्व चिन्तन में जो सबसे अधिक क्रान्तिकारी ऐतिहासिक भूमिका निभाई है वह है पुलिंगी विमर्श अन्तरविरोधों को सामने लाना। स्त्रीवादी विमर्श का आना एक ऐतिहासिक प्रक्रिया है क्योकि आजतक तो स्त्री अस्मिताए स्त्री अनुभव हाशिए पर ही थे। यह सही है कि पश्चिम में स्त्रीवादी विमर्शों का उभार वहां के संस्कृति, राजनीतिक, स्त्री आन्दोलनों के माध्यम से ही हुआ सीमोन द बोउवार की महत्वपूर्ण किताब 'द' सेकेन्ड सैक्स' स्त्री उपेक्षिता ने स्त्री वादी विमर्श के लिए एक नया नारीवादी परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया है।

नारीवादी चिन्तन को लेकर मार्क्सवादी से लेकर आधुनिकता वाद तक हमें बहुत सारी अंर्तदृष्टियाँ प्राप्त होती है नारीवादी परिप्रेक्ष्य की सही शुरूआत फ्रेंच लेखिका सीमोन द बोउवार की पुस्तक द सेकेन्ट सैक्स से होती है। उन्होने नारीवादी विमर्श पर बिल्कुल नये परिप्रेक्ष्य में विचार किया है।

कुछ लोगों को यह भ्रम है कि स्त्री विमर्श, भारतीय प्रस्थितियों में से नहीं उपजा है इसलिए वे इसे पश्चिम के नारीवादी आन्दोलन की नकल मानते है। यह सही है कि स्त्री-विमर्श की शुरूआत पश्चिमी स्त्री मस्तिष्क का देन है लेकिन इस भू-मण्डलीकरण की प्रक्रिया में जहां भौगोलिक सीमाए टूट रही है वहां एसे विमर्श को विदेशी विमर्श कहकर क्या वास्तविकता से दूर हटाना नहीं है? स्त्री विमर्श के बारे में अभी तक ऐसे ही भ्रम है। प्रभा खेतान का कहना बिल्कुल सही हैं कि-"तात्कालिक घटना यदि मनोनुकूल न हो, तो उसकी आलोचना करना उसके महत्व को कम करके आंकना नारीवादी लेखिकाओं ने सदियों से नारी पर होते आ रहे दमन को पहचानते हुए स्पष्ट किया है कि किस प्रकार पितृक

राजनीति ने उसका उत्पीड़न किया हैं। इस नारीवादी विमर्श ने मर्दवादी राजनीति का खुले शब्दों में पर्दाफाश किया है।

आधुनिक साहित्य में नारी की प्रतिभा अपनी पृथ्क पहचान बन चुकी है, यद्यपि बीसवीं शताब्दि के पूर्वाद्ध तक महिला कथाकारों की कुछ रचनाएँ प्रकाश में आई, किन्तु नब्बे के दशक में उपन्यास लेखिकाओं का लेखन अपने चरम पर रहा है। लेखिकाओं ने नियति की गहराईयों में जाकर इस अनुभूति को जो लेखन का रूप दिया उसमें यथार्थ तथा आदर्श का सममिश्रण दिखाई देता है। नारी का संवेदनशील हृदय साहित्य लेखन के अनुकूल ही है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है-"स्त्री जब साहित्य लिखती है तो स्त्रियों के ही सम्बन्ध में लिखती है, और जब पुरूष लिखते हैं तो स्त्रियों के सम्बन्ध में लिखता है, दोनो में अन्तर यह होता है कि स्त्री के लिखने का उद्देश्य है, उसके विषय में फैले भ्रम को दूर करना है और पुरूष के लिखने का उद्देश्य उसके विषय में और भी भ्रम पैदा कर लेना", वास्तव में आज की विषय परिस्थितियों को झेलती हुई नारी की मानसिक स्थिति को जितना एक नारी समझ सकती है उतना पुरुष नहीं।

यद्यपि पुरुष लेखकों की प्रतिभा पर कोई संदेह नहीं किया जा सकता फिर भी पुरूष एक दशक की भांति नारी की स्थिति का विवेचना तो कर सकती है। किन्तु उतनी तन्मयता, से नही, जितना स्वयं नारी ही नारी, में प्रमाणिकता ला सकती है, नारी समस्याओंका यथार्थ अंकन आज के नारी लेखन की विशिष्टता है।

महिला लेखिकाओं में कृष्णा सोवती हिन्दी की एक ऐसी सशक्त लेखिका हैं जिन्होंने अपने लेखन में स्त्री की बदलती हुई स्थिति, उसकी यातनाओं, संघर्षो को स्त्रीत्ववादी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। स्त्रीवादी, परिपेक्ष्य के बिना कोई भी लेखिका अथवा लेखक स्त्री संसार की यातनामयी दुनियां, उसके दु:खों को नहीं पहचान सकती। स्त्रीत्ववादी-विमर्श के अभाव में न तो स्त्री की स्थिति और भूमिका पर लिखा जा सकता है और न पितृासत्तात्मक समाज के अंतरविरोधों को पहचाना जा सकता है। आज तक का स्त्री लेखन पुल्लिगी विमर्श के चौखटों में ही स्त्री संसार को देखता और लिखता आया है।

"वह पुरुष के भीतर दया या हिंसा पैदा करती होती तो वह यहाँ-वहाँ मिल जाने वाली हर वह औरत होती जो पहले अपनी दया से पुरूष की हिंसा पकाती है और फिर पुरूष की हिंसा से अपनी दयनीय स्थिति मजबूत करती है"।[1]

कृष्णा सोबती के लेखन में स्त्री की एक अलग ही छवि उभरकर सामने आई है। स्त्री की एक ऐसी छवि जो आज तक हाशिए पर ही रहती है, यही कारण है कि उनके स्त्री लेखन के प्रति पुरूषों और स्त्रियों की तीखी प्रतिक्रियाएं है जिस प्रकारकी तसलीमा नसरीन के लेखन के प्रति है। इसका मुख्य कारण है पितृक वर्चस्व को आत्मसात् करना। पुरूष दृष्टि से ही स्त्री के बारे में सोचना और लिखना, "डार से बिछुडी" "मित्रो मरजानी" "ऐ लड़की" "सूरजमुखी अंधेरे के," आदि कृतियों में उनकी नारीवादी चेतना प्रखर रूप

में उभरकर सामने आई है कृष्णा सोबती के उपन्यासों में औरत कतरा-कतरा जिदंगी जीती, पिसती अपनी आस्मिता के लिए संघर्ष करती है।

कृष्णा सोबती ने हिन्दी में जब स्त्रीवादी-विमर्श से स्त्री के पक्ष में जोरदार ढंग से लिखा तथा पितृसत्तामक समाज की तीखी आलोचना की तो समूचे पितृसात्तत्मक सामंतीय शक्तियां उनके लेखन के विरूद्ध खड़ी हो गई, उनकी रचनाओं "यारों के घर" मित्रों मरजानी, सूरजमुखी अधेरे के, ऐ लड़की, दिलों दानिश ने अनेकों संस्कारशील पितृसत्तात्मक समीक्षकों, पाठकों और उनकी समर्थक लेखिकाओं को आघात पहुँचाया कि यह लेखिका स्त्री की क्या छवियां प्रस्तुत कर रही है? उनके संस्कारशील पितृसत्तात्मक मन को गहरा सदमा पहुँचा कि स्त्रियांय यह क्या बकवास लिखने लगी है? गाली-गलौच और यौनाचरण में इतनी स्वतन्त्रता।

स्त्रीवादी विमर्श के कारण ही कृष्णा सोबती पितृसत्तात्मक समाज की इतनी कठु, गंभीर और तीखी आलोचना कर सकी हैं, कि किसी प्रकार पितृक मूल्य स्त्री को अन्या, अपेक्षिता बताते हैं, उसका जबर्दस्त शोषण परम्पराओं, रीति-रिवाजों, मूल्यों और संस्कारों के नामपर ही हो रहा है।, और वह पिस रही है, वह इन स्थितियों में कैसे जी रही ह, इन स्थितियों कैसे झेल रही है।? अपनी मुक्ति के लिए कैसे तड़प रही है? संघर्ष कर रही है, इन सब का चित्रण उनके स्त्री लेखन में किसी न किसी रूप में हुई है। "मित्रों मरजानी" कृष्णा सोबती का एक ऐसा अपन्यास है जिसमें उसका नारीवादी दृष्टिकोण खुलकर सामने आया है मित्रो एक ऐसी ही स्त्री हैजो अपने भीतर की ज्वाला, यौनेच्छाओं को प्रकट करती है, वह अपनी देहगत समस्याओं पर विचार करती है जिसे आज तक शायद किसी ने नहीं किया हो। जब परिवार में उसके मातृत्व पर प्रश्न उठाया जाता है तो वह खुले शब्दों में अपने पति की यौन सम्बन्धी कमजोरी, नपुसंकता की ओर संकेत करती है, कि यदि उसमें ऊर्जा है तो वह सौ-सौ कौरवों को जन्म दे सकती है-"मेरा बस चले तो गिनकर सौ कौरवों को जन डालूं अम्मा अपने लाडले बेटे का भी तो ओड़तोड़ जुटाये। निगोड़े पत्थर के बुत में कोई हरकत तो हो" धंनवती के बदन में काँटे उगा आये-छि: बहू एसे बोल, कुबोल नहीं उचारे जाते।[2]

पहलीबार स्त्री अपने अनुभावों के साथ खुलकर सामने आती है, वह पुरूष की नपुंसकता की ओर संकेत करती है। ऐसी स्त्रियों को समाज में अक्सर वैश्या, चरित्रहीन समझा जाता है, उनके व्यक्तित्व पर प्रश्न-चिन्ह लगता है।

सोबती जी ने मित्रो के बारे में जो टिप्पणी की है वह काफी गहरे यथार्थ बोध से परिपूर्ण है-"मित्रों के प्राण में जितना खम था, उसकी टकराहट में जितना दम था-उतने गहरे अंकुश लेखक पर लगते चले गये किसी भी घर गृहस्थी के आँगन से, मित्रों अपने बूते पर घुटती है, लड़ती है, मस्खरी, करती है, टक्कर लेती है, सीनाजोरी भी करती है।[3]

डार से बिद्दुड़ी और जिन्दगीनामा उपन्यासों में भी स्त्री, पुरूष चरित्र के वर्चस्व और

शोषण में गर्व महसूस करते हैं। सूरज मुखी अंधेरे के, हो अथवा यारों के यार या मित्रों मरजानी, सभी में स्त्रिय सम्बन्धों की परम्परागत लीक को तोड़ती नजर आती हैं, ऐसे जोखिमों को उठाना उनके स्त्री पात्रों की विशिष्ट पहचान है, वे उन सगे सम्बन्धों को तोड़ती है, कृष्णा सोबती का लेखन इसी प्रक्रिया में परम्परागत स्त्री लेखन से भिन्न प्रतीत होता है। क्योकि वह स्त्री की नियति और स्थिति को अलग विमर्श में प्रस्तुत करता है।

कृष्णा सोबती के पात्र क्षत-विक्षत हैं, अंधेरे के सूरज मुखी है, जो घने अंधेरों से लड़ते-लड़ते लहुलुहान हो चुकी है, सम्बन्धों की लीक को तोड़ती-तोड़ती अपमानित हो रही है, लेकिन अपनी अस्मिता की खोज की तीव्र आकांक्षा तो उनमें है ही। वे अपने स्वत्व, अस्मिता के प्रश्नों को लेकर जबरदस्त संघर्ष कर रही है।

सन्दर्भ

1. कृष्णा सोबती-सोबती एक सोहबत, पृ.सं.-361
2. मित्रो मरजनी-388 पृ.सं.-65
3. मित्रे मरजानी- पृ.सं. 388

(हे.न.ब.ग. विश्वविद्यालय, श्रीनगर)

✦✦✦

संस्कृत साहित्य और पर्यावरण का सम्बन्ध

-डॉ. पूनम शर्मा

भाषा और साहित्य का विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थन है। विश्व की समस्त प्राचीन भाषाओं और उनके साहित्य में संस्कृत का खास महत्व है। यह महत्व अनेक कारणों और दृष्टियों से है। भारत के सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन एवं विकास के सोपानों की सम्पूर्ण व्याख्या संस्कृत वाङ्मय के माध्यम से आज उपलब्ध है।

ऋग्वेद काल से लेकर आज तक इस भाषा के माध्यम से सभी प्रकार के वाङ्मय का निर्माण होता आ रहा है। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी के छोर तक किसी न किसी रूप में संस्कृत का अध्ययन-अध्यापन अब तक होता चला आ रहा है। भारतीय संस्कृति और विचारधारा का माध्यम होकर भी यह भाषा अनेक दृष्टियों से धर्मनिरपेक्ष रही है। इसी कारण समस्त प्रकार के वाङ्मय की रचना इस भाषा से हुई है।

ऋग्वेद संहिता के कतिपय मंडलों की भाषा संस्कृत वाणी का सर्वप्राचीन उपलब्ध स्वरूप है। ऋग्वेद संहिता इस भाषा का पुरातनम ग्रन्थ है। इसीलिए ऋग्वेद काल से लेकर आज तक उस भाषा की अखण्ड और अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है। संस्कृत भाषा का विकसित स्वरूप - ऋगसंहिता कालीन साधु भाषा और 'ब्राह्मण', 'आरण्यम' और दशोपनिषद की साहित्यिक वैदिक भाषा के अनन्तर उसी का विकसित स्वरूप लौकिक संस्कृत या 'पाठिनीय संस्कृत' हुआ। इसे ही संस्कृत या संस्कृत भाषा कहा गया है।

संस्कृत भाषा की उपयोगिता :

संस्कृत का अध्ययन मनुष्य को सूक्ष्म विचारशक्ति प्रदान करता है। इसका अध्ययन मौलिक चिन्तन को जन्म देता है। इसका व्याकरण भी अद्भुत है। ऐसा सर्वांगपूर्ण व्याकरण जगत की किसी भी अन्य भाषा में देखने को नहीं मिलता। संस्कृत ज्ञान के बिना हिन्दू तो असंस्कृत ही है। स्वामी विवेकानंद जी के शब्द हैं - 'संस्कृत शब्दों की ध्वनिमात्र से इस जाति को शक्ति, बल और प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इसलिए संस्कृत भाषा को अपनी धरोहर रूप मानकर उसका संरक्षण कर विकसित करना चाहिए क्योंकि ये सिर्फ भाषा नहीं है वरन् हमारी पहचान है। इसीलिए इसे सब भाषाओं की जननी कहा गया है। तभी तो संस्कृत साहित्य का भी विश्व में अपना एक विशिष्ट स्थान है। संस्कृत साहित्य का इतना विस्तार है कि ग्रीक एवं लैटिन दोनो भाषाओं का साहित्य एकत्र किया जाये तो भी संस्कृत साहित्य के सामने नगण्य प्रतीत होता है। संस्कृत साहित्य का मूल वेद है। ललित कलाओं में भी

संस्कृत साहित्य का नाम सर्वोपरि है। इसीलिए हमारे कवियों ने संस्कृत साहित्य और पर्यावरण को अछूता नहीं माना बल्कि संस्कृत के कवियों ने तो अपनी रचनाओं के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण का संदेश भी दिया है। चाहे वेद हो या कवि दोनो ही भलीभाँति स्वीकार करते हैं कि पर्यावरण संरक्षण आवश्यक है। संस्कृत के महाकवि कालिदास को भी प्रकृति से अगाध प्रेम था। काव्य का कोई ऐसा प्रसंग नहीं जहां प्रकृति ने उनका साथ छोड़ा हो। रघुवंश, मेघदूत, कुमार सम्भव, ऋतुसंहार में प्रकृति के नाना रूपों का वर्णन देखने को मिलता है। जैसा यहां कवि ने दर्शाया है।

उद्गलिदर्भकवला मृगा परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुच्चन्त्य श्रुणीव लताः।।[1]

यहां कवि ने शकुन्तला का वन्य जीवों के प्रति प्रेम दर्शाया है। कवि कालिदास जी ने मार्मिक दृश्यों को पर्यावरण के साथ जोड़कर संस्कृति साहित्य को अमृतत्व प्रदान किया। वहीं दूसरी ओर मेघदूतम के माध्यम से जल संरक्षण का संदेश दिया है।

जानामि त्वां प्रकृति पुरूषं कामरूपं मद्योनः।[2]

संस्कृत साहित्य में कवियों ने पर्यावरण संरक्षण का संदेश देते हुए उसके साथ अपना रिश्ता स्थापित किया है। हमारे वेदों के माध्यम से भी संस्कृताचार्यों ने प्रकृति के साथ अपना सम्बन्ध दर्शाया है।

स्योः ना पृथिवी नोभावानृक्षरा निवेशनी।
यच्छानः शर्मः सप्रथाः अपः नः शोशुचदयमः।।[3]

चाहे जल हो, पृथ्वी हो या आकाश हो, समस्त पंचतत्व हमारे लिए शुभ होवें, ऐसी कामना वेदों में की गयी है। आज मानव चाहे कितना भी आधुनिक क्यों न हो गया हो, लेकिन वह इस बात को झुठला नहीं सकता कि संस्कृति व पर्यावरण का आपस में परस्पर सम्बन्ध है। जहां संस्कृत भाषा हमारी पहचान कराती है, वहीं पर्यावरण हमें उसका संरक्षण करने की कला सिखाता है। तभी तो आदिकाल से लेकर आज तक प्रकृति संरक्षण को महत्व दिया है। संस्कृत साहित्यकारों ने भी जगह-2 अपनी रचनाओं के माध्यम से दोनों का सम्बन्ध जोड़ते हुए उनके संरक्षण की कामना की है।

टिप्पणी

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम - 4/10 कालिदास
2. मेघदूतम - कालिदास
3. यजुर्वेद - 35.21

संदर्भ ग्रंथ -

1. अभिज्ञान शाकुन्तलम
2. मेघदूतम
3. यजुर्वेद

✦✦✦

संस्कृत : महत्त्व और प्रभाव

–डॉ. प्रियंका घिल्डियाल

किसी भी राष्ट्र या जाति का वास्तविक इतिहास उसका साहित्य है। साहित्य ही समाज की तत्कालीन चिन्ताओं, धारणाओं, भावनाओं, आकांक्षाओं और आदर्शों का समुचित चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करता हैं। इस दृष्टि से संस्कृत साहित्य भारत के गौरवमय अतीत का मणिमय मुकुट है। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक उत्कर्ष का जैसा सजीव प्रतिबिम्ब संस्कृत के सर्वांगसुन्दर साहित्य में उपलब्ध होता है। वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। संस्कृत भारतीयों की प्राणभूत भाषा है। इस भाषा में ही उनका मनन, चिन्तन, अनुसंधान और अनुभूति समन्वित है। संस्कृत शब्द का अर्थ है- परिष्कृत, निर्दोष, निर्मल, शुद्ध और अलंकृत। भारत का समस्त प्राचीन ज्ञान-भण्डार संस्कृत में ही है। संस्कृत भारत की एक शास्त्रीय भाषा है। इसे देववाणी अथवा सुरभारती भी कहा जाता है। यह विश्व की सबसे पुरानी उल्लिखित भाषाओं में से एक हैं। यह हमारी गौरवपूर्ण संस्कृति एवं सभ्यता के चरमोत्कर्ष की साक्षी है। संस्कृत हिन्द-यूरोपीय भाषा परिवार की हिन्द-ईरानी शाखा की हिन्द-आर्य उपशाखा में शामिल है। ये आदिम-हिन्द-यूरोपीय भाषाओं से बहुत अधिक मेल खाती है। आधुनिक भारतीय भाषाएँ जैसे-मैथिली, हिन्दी, उर्दू, कश्मीरी, उड़िया, बांग्ला, मराठी, सिन्धी, पंजाबी आदि इसी से उत्पन्न हुई है। संस्कृत में हिन्दू धर्म से सम्बन्धित लगभग सभी धार्मग्रन्थ लिखे गये हैं। बौद्ध धर्म (विशेषकर महायान) तथा जैन धर्म के भी कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये है। आज भी हिन्दू धर्म के अधिकतर यज्ञ और पूजा संस्कृत में ही होती है। इसको सभी उच्च भाषाओं की जननी माना जाता हैं। इसका कारण है- इसकी सर्वाधिक शुद्धता।

भाषा का प्रवाह एक ऐसी नदी की तरह होता है जो हमेशा अविरल बहती रहती है। भाषा का स्वरूप निरंतर बदलता रहता है, और यह सभी भाषाओं के बारे में कहा जा सकता हैं। हम सभी इस तथ्य से अवगत हैं कि वर्तमान हिन्दी का उद्‌भव संस्कृत भाषा से हुआ है और काल के अनुसार यह पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का चोला बदलती हुई वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुयी। यदि हम वर्तमान हिन्दी के कुल विकास का क्रम परीक्षण करें तो पायेंगे कि यह लगभग 3500 वर्ष पुरानी भाषा है और वैदिक संस्कृत से लेकर हिन्दी के वर्तमान स्वरूप तक धीरे-धीरे इसमें विकास या परिवर्तन होते हरे हैं। परिवर्तन की यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से घटित होती रही। यह भी उल्लेखनीय है कि व्याकरणबद्ध भाषा और लोकभाषा में शुरूआत से ही अंतर रहा है। पाणिनि द्वारा सस्कृत को व्याकरणबद्ध करने

के बाद लौकिक संस्कृत का जन्म हुआ एवं यही लौकिक संस्कृत ऋग्वेद के बाद ये तीनों वेदों और उपनिषदों की भाषा बनी। महाकवि कालिदास के नाटकों में भी अभिजात्य वर्ग के पास जहाँ संस्कृत भाषा में संवाद करते दिखाए गए हैं। वहीं जनसामान्य एवं निचली जातियों के पात्र पालि एवं प्राकृत में संवाद करते है। इस प्रकार हम पाते है कि भाषा अपने उद्‌भव काल से ही निरंतर परिवर्तनशील रही हैं।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि किसी भाषा द्वारा अन्य भाषाओं के शब्दों को समाहित करने की प्रक्रिया स्वतंत्र व प्राकृतिक होनी चाहिए। अधिरोपित नहीं, जैसा कि आजकल हो रहा है। अन्य भाषाओं के शब्दों को प्राकृतिक रूप से समाहित करने से भाषा समृद्ध होती है जबकि जानबूझकर अन्य भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजी, के शब्दों के प्रयोग से भाषा का स्वरूप बदलता व भ्रष्ट होता है। जनमानस द्वारा प्राकृतिक रूप से अन्य भाषाओं के उन्हीं शब्दों को समाहित किया जाता है जिनके हिन्दी पर्याय या तो सटीक नहीं होते या उच्चारण में कठिन होते हैं।

भाषा–

विशेष के अर्थ में 'संस्कृत' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम रामायण में दिखाई देता है। सुन्दकाण्ड में सीताजी से किस भाषा में वार्त्तालाप किया जाय? इस पर विचार करते हुए हनुमान जी ने कहा है कि यदि द्विज के समान में संस्कृत वाणी बोलूगाँ तो सीताजी मुझे रावण समझकर डर जायेगी–

"यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिखि संस्कृतताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥"[1] (सुन्दर 5–14)

महाकवि दण्डी ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के समय 'संस्कृत' का प्रयोग भाषा के लिये किया है–

"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।"[2] (काव्यादर्श 1–33)

वाक्य विश्लेषण तथा उनके तत्वों का समीक्षण दर्शित करना ही संस्कार है जो कि संस्कृत का मुख्य उद्देश्य है और इसी संस्कार प्रवृत्ति के कारण प्राचीन वैयाकरणों ने उसका नाम 'संस्कृत' रखा है। संस्कार पर आधारित व्याकरण की इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हो जाने पर ही पवित्र (संस्कृत) ग्रन्थों की भाषा का नाम संस्कृत हुआ है। 'संस्कृत' शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना है जिसका मौलिक अर्थ है संस्कार की गयी 'भाषा'। सर विलियम जोन्स के अनुसार, "संस्कृत विश्व की अद्‌भुतम भाषा है, यूनानी से अधिक पूर्ण, लैटिन से अधिक अनुवचनीय तथा अन्य किसी भी भाषा से अधिक सुसंस्कृत। इसकी धातु रूपावली से प्रत्येक शब्द का सम्यक् रूप समझा जा सकता है। इसलिए यह भाषा पूर्ण मस्तिष्क की पूर्णता की चरम सीमा है। इसके अतिरिक्त इसकी सरलता भी इसकी अपनी विशेषता है। वाल्मीकि के आदि काव्य रामायण से सरल और कौन सा ग्रन्थ होगा?"[3] संस्कृत भाषा विश्व

परिवार एवं सार्वजनीन भ्रातृभाव की जननी है। संसार के प्रमुख विश्वविद्यालयों में प्राचीन भाषाओं के अनिवार्य अध्ययन विषय में से एक संस्कृत भाषा भी है।

"सत्य शिवं सुन्दरम्" इस साहित्य का ध्येय रहा। संस्कृत साहित्य की वृहत्रयी "माघ, भारवि, कालिदास" के ग्रन्थ इसी सिद्धान्त के परिपोषक है।"[4] पुनर्जागरण के संदर्भ में संस्कृत साहित्य की अवरूद्ध धारा भी धीरे-धीरे गतिशील होने लगी। इस क्षेत्र में विशेषत: आर्य समाज में संस्कृत तथा पुरातन भारतीय संस्कृति का सम्बन्ध जोड़ा। संस्कृत के प्रचार तथा शिक्षण में अपनी स्पष्ट नीति निर्धारित की। फलत: संस्कृत भाषा का अध्ययन-अध्यापन एक बार पुन: गौरव का विषय बनने लगा। आर्य समाज तथा सनातन धर्मावलम्बियों ने संस्कृत पाठशालाएँ विद्यालय तथा गुरूकुल खोले। गुरूकुल कांगड़ी के तत्वावधान ने संस्कृत की नियमित उच्च शिक्षा का श्री गणेश हुआ।

अनेक शिक्षाशास्त्री संस्कृत के ज्ञान को अनिवार्य बताते हैं तथा उसके प्रसार एवं समर्थन करने का सुझाव देते है। अत: उनके अनुसार विद्यालय में संस्कृत का अध्ययन अनिवार्य भाषा के रूप में होना चाहिए। वे सम्पर्क भाषा हिन्दी के साथ ही संस्कृत का समर्थन करते हैं। उनके विचार से अहिन्दी भाषी प्रदेशों में जहाँ हिन्दी का विरोध है किन्तु वहाँ संस्कृत का विरोध नहीं है। इस मत के समर्थकों ने इस बात पर भी बल दिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क के लिए संस्कृत भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए। संस्कृत को उचित स्थान देने के लिए निम्न विद्वानों के विचार निम्नलिखित हैं-

1. **डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार**-"जब सरकार अर्थोत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण कर रही है तो संस्कृत को संरक्षण प्रदान करने के उत्तरदायित्व को क्यों नहीं वहन कर सकती-?
2. **प्रो. हीरेन मुखर्जी के अनुसार**-भारत को गौरवपूर्ण उत्तराधिकार के रूप में संस्कृत प्राप्त हुई। इसने राष्ट्र को एकता के सूत्र में बाँधा है और इस भाषा के द्वारा जो संस्कृति प्रवाहित हुई, उसने सम्पूर्ण मानव-सभ्यता के क्षेत्र में योगदान दिया।
3. **श्री चपलकान्त भट्टाचार्य के अनुसार**-संस्कृत को अतिरिक्त राजभाषा बनाना चाहिए।
4. **श्री प्रकाशवीर शास्त्री के अनुसार**-जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी सामान्य जनता की बोलचाल की भाषा नहीं थी, वे इतिहास नहीं जानते।
5. **डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार**-'संस्कृत' अनेक भारतीय भाषाओं की जननी हैं, द्रविड़ भाषाओं पर भी इसका प्रभाव है। आज भी भारत के विभिन्न भू-भागों में पण्डितों के मध्य सम्पर्क की यह सामान्य भाषा है और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह जीवित भाषा नहीं है। संस्कृत साहित्य का अत्यधिक प्रभाव भारत में ही नहीं वरन् एशिया के अन्य भागों में भी है। संस्कृत ने हम भारतीय लोगों के मन पर इतनी छाप छोड़ी है जितना हम चेतन मस्तिष्क से जान भी नहीं

पाते। एक दृष्टि से संस्कृत साहित्य राष्ट्रीय भाषा है, किन्तु इसका उद्देश्य सार्वभौमिक रहा है, इसलिए जो व्यक्ति एक संस्कृति विशेष के अनुयायी नहीं थे, वे भी इस भाषा के प्रति आकर्षित हुए थे।

6. **नेपाल के राजा महेन्द्र का विश्व संस्कृत परिषद् के छवें अधिवेशन के अवसर पर सन्देश**–हमारी आर्य संस्कृति और सभ्यता का स्त्रोत संस्कृत भाषा है। आर्यावृत्त के विभिन्न भागों में बोली जाने वाली भाषाओं की जननी भी संस्कृत ही है। अत: सबका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे सब प्रकार से इस भाषा की प्रगति में सहायक हो।

7. **श्री वी.वी.गिरि के अनुसार**–"संस्कृत भारतीय विरासत एवं सभ्यता का प्रतीक है। यह केवल भाषा नहीं है। अत: यह आवश्यक है कि देश के सभी विद्यालयों एवं महाविद्यालयों में संस्कृत शिक्षण में प्रगति की जाय।

संस्कृत केवल स्वविकसित भाषा नहीं बल्कि संस्कारित भाषा भी है। अत: इसका नाम संस्कृत है। केवल संस्कृत ही एक मात्र भाषा है जिसका नामकरण उसके बोलने वालों के नाम पर ही किया गया है। इसको संस्कारित करने वाले भी कोई साधारण भाषाविद् नहीं बल्कि महर्षि पाणिनि, महर्षि कात्यायन और योगशास्त्र के प्रणेता महर्षि पतंजलि है। इन तीनों महषियों ने बड़ी ही कुशलता से योग की क्रियाओं को भाषा में समाविष्ट किया है। यही इस भाषा का रहस्य है।

अत: हम इस निष्कर्षत: पर पहुँचते है कि सस्कृत केवल एक मात्रा भाषा नहीं है अपितु संस्कृत एक विचार है, संस्कृत एक संस्कृति है, एक संस्कार है, संस्कृत में विश्व का कल्याण है, शांति है, सहयोग है, वसुदैव कुटुम्बकम् की भावना है। संस्कृत भाषा को धरोहर के रूप में बनाए रखना हम सभी का परम कर्त्तव्य ही नहीं बल्कि दायित्व भी है।

सन्दर्भ :-

1. सुन्दरकाण्ड–5/14
2. काव्यादर्श– 1/33
3. संस्कृत–साहित्य और मेधाव्रताचार्य – डॉ. कुमारी सुशीला आर्या– पृ.–01
4. संस्कृत–साहित्य और मेधाव्रताचार्य – डॉ. कुमारी सुशीला आर्या– पृ.–3

(हिन्दी विभाग, हे.न.ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर, गढ़वाल)

✦✦✦

निराला के काव्य में संस्कृत और हिन्दी भाषा का अन्तर्सम्बन्ध

–प्रियंका भट्ट

संस्कृत भाषा भारत की शास्त्रीय भाषा है। यह संसार की सबसे प्राचीन भाषा मानी जाती है। वेदों में संस्कृत भाषा को 'देववाणी' और 'सुरभारती' नाम से सम्बोधित किया गया है। संस्कृत भाषा विश्व की सभी भाषाओं की आदि जननी है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति संस्कृत भाषा से हुआ है। संस्कृत से लेकर पालि-प्राकृत-अपभ्रंश होते हुए हिन्दी भाषा का विकास हुआ है। भाषा के विकास की प्रारम्भिक अवस्था हो या शब्द-ग्रहण का स्त्रोत, संस्कृत भाषा के बिना काम नहीं चलता है। संस्कृत भाषा के बिना हिन्दी भाषा अपूर्ण है। हिन्दी भाषा में संस्कृत भाषा के कुछ शब्द ज्यों के त्यों आए हैं और कुछ शब्द संस्कृत से चलकर प्राकृत एवं अपभ्रंश से होते हुए हिन्दी में आए हैं। जैसे-

(1) तत्सम शब्द - रात्रि, हस्त, समर, अंधकार।

(2) तद्भव शब्द - रात, हाथ, अंधियारा आदि।

डॉ. भोलानाथ तिवारी ने लिखा है-"लगभग 5वीं सदी में पाणिनि ने अपने व्याकरण में उदीच्य में प्रयुक्त संस्कृत के रूप से अपेक्षाकृत अधिक परिनिष्ठित एवं पण्डितों में मान्य रूप को नियमबद्ध किया। जो सदा-सर्वदा के लिए लौकिक या क्लैसिकल संस्कृत का सर्वमान्य आदर्श बन गया। पाणिनि की रचना के बाद बोलचाल की भाषा पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, आधुनिक भाषाओं के रूप में विकास करती आज तक आई है।"[1]

हिन्दी साहित्य में सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला जी ने अपने काव्यों में संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है। उन्होंने अपनी लेखनी में संस्कृत भाषा शब्दावली को अपनाया है। उनकी "राम की शक्ति पूजा" और "तुलसीदास" आदि प्रबन्ध कृतियों में संस्कृत तथा मानक हिन्दी के विषय, प्रसंग, परिवेश तथा प्रयोजन के अनुरूप एकाधिक प्रयोग परिलक्षित होते हैं। निराला जी ने अपनी कविताओं में संस्कृत और हिन्दी भाषाओं के समाज तथा संस्कृति से अनुशासित रूपों का प्रयोग किया है। कवि ने अपने काव्य में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के साथ-साथ अवधी, ब्रज, बंगला आदि भाषा प्रयोगों को भी अपनाया है।

कवि निराला कृत "राम की शक्ति पूजा" मिथकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें कवि ने राम की पौराणिक कथा को लेकर मिथक की सर्जना की है। निराला जी ने

इस काव्य में संस्कृत प्रभावित हिन्दी का प्रयोग किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस संबंध में लिखा है–"निराला जी की भाषा अधिकतर संस्कृत की तत्सम पदावली में जड़ी हुई होती है। जिसका नमूना 'राम की शक्तिपूजा' में मिलता है।"[2]

यथा–

"रवि हुआ अस्तः ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर।"[3]

इन पंक्तियों में कवि ने संस्कृत तत्समप्रधान शब्दों के साथ-साथ हिन्दी शब्दों का भी प्रयोग किया है। निराला जी को तत्सम शब्द प्रिय था, इसलिए उन्होंने संस्कृत के प्राचीन अप्रचलित शब्दों का पुनः प्रयोग संस्कृत की धातुओं की सहायता से नवीन शब्दों का सृजन किया है। जैसे-**अपरजेय समर, तीक्ष्ण-शर-विद्यृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर , अंधकार, लोचन, रूधिर, कपि, रात्रि, वाहिनी आदि** शब्दों के प्रयोग अवलोकनीय हैं। निराला कृत "राम की शक्ति पूजा" तत्सम शब्दों के प्रयोग से संस्कृत काव्यरचना दिखाई देती है। यहाँ संस्कृत व्याकरण (काल, लिंग, वचन, पुरूष व कारक) के नियमों का अभाव है किन्तु शब्द पूर्णतः संस्कृत निष्ठ तत्सम हैं। निराला के कल्पनालोक तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग से काव्य भाषा में अस्पष्टता एवं दुरूहता विद्यमान है। "राम की शक्ति पूजा" में कवि निराला ने अपने प्रौढ़, सशक्त एवं ओजस्वी भावों को वाणी प्रदान करने के लिए प्रायः गम्भीरता, गूढ़ता और प्रौढ़ता से परिपूर्ण भाषा का प्रयोग किया है, जिसमें संस्कृत की दीर्घ समासान्त पदावली को सर्वाधिक महत्व प्राप्त हुआ है और सम्पूर्ण पदों में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है–

"रावण प्रहार-दुर्वार-विकल वानर-दल-बल,
मूर्च्छित-सुग्रीवांगद-भीषण-गवाक्ष-गय- नल।

वारित-सौमित्र, भल्लपति-अगणित-मल्ल-रोध,
गर्ज्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत-केवल-प्रबोध।"[4]

कवि निराला ने संस्कृत निष्ठ शब्दों के माध्यम से हिन्दी पद-विन्यास को अधिक प्रौढ़-प्रशस्त बनाने का प्रयास किया है। उन्होंने अत्यन्त सार्थक शब्दों के सृजन से हिन्दी को अभिव्यक्ति की विशेष शक्ति प्रदान की है।

निराला कृत "तुलसीदास" काव्य में संस्कृतनिष्ठ मानक हिन्दी का प्रयोग हुआ है। कवि की शब्दावली कठिन तथा भावों में स्थान-स्थान पर दुरूहता तो है, लेकिन मध्यकालीन समाज का सत्य कवि ने पाठकों तक बखूबी पहुँचाया है। **"निराला की श्रमसाध्य कला का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण उनका काव्य 'तुलसीदास' है जिसमें भाषा के अभिजात संस्कार को अपने गहन अध्यवसाय के बल निखारने का आग्रहपूर्ण प्रयास है।"[5]**

कवि ने संस्कृत निष्ठ तत्सम शब्दों के साथ विविध शब्दों के संधियुक्त प्रयोग भी किया है। जैसे-शीतलच्छाय, तमस्तूर्य, ऊर्मिल आदि।

"भारत के नभ का प्रभावपूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे-तमस्तूर्य अदङ्मण्डल
उर के आसन पर शिरस्त्राण
शासन करते हैं मुसलमान
है ऊर्मिल जल, निश्चलत्प्राण पर शतदल।"[6]

कवि निराला जी ने संस्कृत तथा हिन्दी भाषा को काव्यरूपी बनाने के लिए निरंतर संघर्ष किया है। उनकी पहली कविता "जूही की कली" में संस्कृत-हिन्दी मिश्रित भाषा का प्रयोग मिलता है। निराला जी अपनी पूरी काव्य यात्रा में संस्कृत का मोह त्याग नहीं पाये हैं। उन्होंने 'जूही की कली' कविता में संस्कृत निष्ठ शैली अपनाई है। यथा-

"विजन वन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी-स्नेह स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु-तरूणी-जूही कली।"[7]

इन पंक्तियों में विजन-वन-वल्लरी, स्नेह-स्वप्न-मग्न तथा अमल-कोमल-तनु-तरूणी विशुद्ध संस्कृत के शब्द हैं और पर, सोती थी, सुहागभरी, जूही की कली आदि हिन्दी के शब्द हैं।

कवि निराला ने "स्मृति" तथा "जागो फिर एक बार" जैसी कविताओं में भाव, विचार एवं विषय के अनुकूल संस्कृत प्रभावित हिन्दी भाषा का प्रयोग किया है। जिसे बहुत कम पढ़ा-लिखा सामाजिक वर्ग भी समझ सकता है।

यथा-

"जगाने में है क्या आनन्द?
शृंखलित गाने में क्या छन्द?[8] (स्मृति)

निराला जी के काव्य में संस्कृतगर्भित पदावली के साथ-साथ ऐसे ठेठ शब्द भी आए हैं जो लोकजीवन में व्याप्त हैं और लोकभाषा के अंग बन चुके हैं। उनकी "कुकुरमुत्ता" कविता में अधिकांशत: सामान्य बोलचाल की भाषा का प्रयोग हुआ है।

यथा-

वहीं गन्दे में उगा देता हुआ बुत्ता
पहाड़ी से उठे सर ऐंठकर बोला कुकुरमुत्ता-
अबे सुन बे गुलाब!
भूल मत गर पाई खुश्बू रंगों आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट।"[9]

निराला जी के प्रारम्भिक काव्यों में संस्कुत भाषा की प्रचुरता है जबकि अंतिम रचनाओं में देश भाषा का सौंदर्य अधिक स्पष्टता से दिखाई देता है। जिस प्रकार की सांस्कृतिक स्तर की भावव्यंजना निराला जी ने अपने काव्यों में की है, उसके लिए संस्कृत और हिन्दी भाषा का योग्य सम्मिश्रण प्रदर्शित करने वाली उनकी यह भाषा आदर्श बन गई है। **"निराला की काव्य भाषा समास बहुल संस्कृत के प्रयोगों से लेकर बोलचाल की भाषा के अशिष्ट प्रयोगों तक संचरण करती है।"**[10]

कवि निराला ने संस्कृतनिष्ठ तत्सम और तद्भव हिन्दी शब्दों को आरम्भिक रचनाओं से लेकर अंतिम रचना 'सान्ध्यकाकली तक अपनाया है।' कवि ने अपनी अन्य काव्य रचनाओं जैसे-सरोजस्मृति, दान, प्रिय यामिनी जागी, प्रेयसी, वीणा वादिनी, सखि बसन्त आया, जलद के प्रति, प्रगल्भ प्रेम, तरंगों के प्रति, रेखा, जागरण, वर दे वीणा वादिनी वर दे, बादल राग, आग्रह आदि में संस्कृतनिष्ठ मानक हिन्दी शब्दावली का प्रयोग किया है।

इस प्रकार भाषिक प्रयोगों से यह स्पष्ट होता है कि निराला जी ने अपनी कविताओं में प्रयोजन तथा प्रसंग के अनुकूल संस्कृत बहुल शब्दावली के साथ-साथ संस्कृत की विरल शब्दावली के प्रयोग वाली हिन्दी को भी अपनाया है। उनके काव्य में संस्कृत और हिन्दी की पदावली समान रूप से मिली हुई है जिसमें एक सम्पूर्ण समाहार परिलक्षित होता है। उनके काव्यों में दोनों भाषाओं का समृद्ध प्रयोग उपलब्धा होता है। निराला जी ने परिनिष्ठित लोकसमाज तथा दलित से संबंधित पृथक-पृथक भाषा रूपों का प्रयोग अपनी काव्य-रचनाओं में किया है। उनका यह भाषा समायोजन समाज को परस्पर जोड़ता है। तथा उनका सम्पूर्ण काव्य संस्कृत एवं हिन्दी भाषायी कोश से सम्पन्न तथा समृद्ध है। उनके काव्य में प्रयुक्त संस्कृत और हिन्दी भाषा राष्ट्रीय अखण्डता की रक्षा का संकेत भी देती है।

सन्दर्भ ग्रन्थः-

1. हिन्दी भाषा - डॉ. भोलानाथ तिवारी, प्रकाशन-किताब महल (इलाहाबाद), संस्करण - 2011, पृ.-9
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, लोकभारती प्रकाशन (इलाहाबाद), चौथा संस्करण-2012, पृ.-489
3. अपरा (राम की शक्ति पूजा) - सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजकमल प्रकाशन (दिल्ली), संस्करण -2009, पृ.-41
4. वही, पृ.-42
5. हिन्दी साहित्य का वस्तुनिष्ठ इतिहास (आधुनिककाल खंड-3) - डॉ. कुसुम राय, विश्वविद्यालय प्रकाशन (वाराणसी), दूसरा संस्करण-2016, पृ.-116
6. तुलसीदास-सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजकमल प्रकाशन (दिल्ली), संस्करण-2014
7. अपरा (जूही की कली) - सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजमल प्रकाशन (दिल्ली), संस्करण-2009, पृ.-11

8. अपरा (स्मृति) – सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राजकमल प्रकाशन (दिल्ली), संस्करण–2009, पृ.–109
9. निराला रचनावली–2 – सं. नंद किशोर नवल, राजकमल प्रकाशन (दिल्ली), पांचवां संस्करण–2009, पृ.–45
10. निराला–सं. इन्द्रनाथ मदान, लोकभारती प्रकाशन (इलाहाबाद), चौथा संस्करण–2008, पृ. –133

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, हे.न.ब.ग. केन्द्रीय वि.वि., श्रीनगर गढ़वाल (उत्तराखण्ड)

✦✦✦

हिन्दी और संस्कृत में अंतः संबंध

–डॉ. शशि बाला रावत

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे परस्पर व्यवहार के लिए भाषाई माध्यम की आवश्यकता होती है। किन्तु भाषा सिर्फ विचारों के संप्रेषण का माध्यम न हो कर सामाजिक मनुष्य के संप्रेषण का ऐसा माध्यम है जिसकी सहायता से वह विशेष परिस्थिति में विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि हेतु उसका प्रयोग करता है और उसी संन्दर्भ एवं परिस्थिति में अर्थ ग्रहण करता है। भाषा एक सामाजिक यर्थाथ है जिसका विकास मानव के सामाजिक जीवन के विभिन्न उद्वेश्यों की पूर्ति के लिए होता है अतः विद्वानों की राय में संस्कृत सभी भारतीय भाषाओं की जननी है सभी भारतीय भाषाओं का उद्भव और विकास संस्कृत भाषा से ही हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में संस्कृत भाषा प्राचीन मानी गई है। वैदिक एंव लौकिक संस्कृत जब सामान्य के लिए क्लिष्ट एंव दुर्बोध होने पर पालि, प्राकृत आदि भाषाएं प्रचल्लित हुई। संस्कृत भाषा की विभक्तियों का बाहुल्य और उनकी अनिर्वायता के नियम प्राकृत और अपभ्रंश में शिथिल होते गये।

कारक और विभक्तियों के स्थान पर इनमें परसर्गों का व्यवहार होने लगा प्रान्तीय अपभ्रंशों महाराष्ट्री अपभ्रंश, मागधी अपभ्रंश, अर्धमागधी अपभ्रंश, शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश से आधुनिक भारतीय भाषाओं- उपभाषाओं एवं बोलियों के विकास की यह प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है। 1000 के पश्चात् विकास की यह अवस्था देखने में आती है। महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी, कोकंणी भाषा मागधी अपभ्रंश से हिन्दी भाषाएं अर्थात् अवधी बघेली और छत्तीसगढी, शौरसेनी अपभ्रंश से राजस्थानी, मालवी, मेवाडी, जयपुरी, मारवाडी तथा गुजराती भाषा का विकास हुआ। मराठी की शब्दावली संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के माध्यम से आई है। वैदिक भाषा, लौकिक संस्कृत, पालि प्राकृत, अपभ्रशं, अवहट्ट, प्राचीन हिंदी और आधुनिक हिंदी इस क्रम से तीन हजार वर्षो से भी अधिक लम्बी अवधि तक भाषा का विकास हमारे देश में होता रहा है। संस्कृत के लौकिक रूप से प्राकृत भाषाएं, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री और पैशाची आदि विकसित हुई और इन प्राकृतों के लौकिक रूप से शौरसेनी, अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश मागधी अपभ्रंश, अर्धमागधी अपभ्रंश और पैशाची अपभ्रंश का विकास हुआ। शब्द-रचना प्रक्रिया की दृष्टि से हिंदी एवं भारतीय भाषाओं का निकट का संबंध है।

आज केंद्र सरकार की राजभाषा हिंदी है, हिंदी के प्रचार-प्रसार करने और उसका विकास करने का कार्य सरकार कर रही है, केन्द्र सरकार की भाषा-नीति रही है कि आठवीं

अनुसूची में विनिर्दिष्ट भारत की अन्य भाषाओं के प्रयुक्त रूप, शैली और पदों को आत्मसात् करते हुए मुख्यत: संस्कृत से गौणत: अन्य भारतीय भाषाओं से शब्द ग्रहण करते हुए हिंदी के शब्द भंडार को समृद्ध करें। उदाहरणार्थ, हिन्दी में मराठी का 'पावती' शब्द ग्रहण किया गया है। अष्टम् सूची में 22 भाषाएं सम्मिलित की गयी है। असमिया, उडिया, उर्दू, कन्नड़, मराठी, मलयालम, संस्कृत, सिंधी, हिंदी नेपाली कोंकणी, मणिपुरी, बोड़ो, मैथिली, संथाली एवं डोगरी, गुजरात और महाराष्ट्र में हिंदी को द्वितीय भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त है, और शेष अहिंदी भाषी राज्यों में हिंदी का प्रयोग संपर्क भाषा के रूप में प्रचलित है। आज आवश्यकता इस बात की है कि 'ग' क्षेत्र के अहिंदी भाषी राज्य हिंदी को राजभाषा के रूप में अपनाने के लिए अपने विधान-मण्डल में संकल्प करें ताकि हिंदी को राजभाषा के रूप में मान्यता मिल सके। बौद्धिकता का संचार कराने वाली संस्कृत विश्व की श्रेष्ठतम्, प्राचीनतम एवं शब्द सामर्थ्य की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण भाषा है। इसमें वेद, उपनिषद, पुराण, अष्टाध्यायी, रामायण, महाभारत, गीता, मेघदूतम, अभिज्ञानशाकुन्तलम, हितोपदेश, पंचतन्त्र, कादम्बरी आदि अनेक वैद्वघ्यगर्भित कृतियों की रचना हुई है। जिनके चमत्कारिक सौन्दर्य, रस लालित्य एवं ज्ञानगार के आगे समूचा संचार सिर झुकाकर नमन करता हुआ दिखाई पड़ता है। संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहक है। संस्कृत के आधार गन्थ अष्टाध्यायी के रचियता कोई भी विद्वान किसी भाषा में पाणिनि के सूत्रों से अधिक भाषा सम्बन्धी सम्पूर्ण तथ्य वर्गीकरण और व्यापक संग्रह नहीं दे सकता है। "भाषा के क्षेत्र मे भारतवर्ष की श्रेष्ठ भाषा संस्कृत है। संस्कृत भाषा दुनिया की सर्वाधिक सम्पन्न एवं सरल भाषा है। देवनागरी लिपि न केवल वैज्ञानिक है बल्कि विश्व में सर्वाधिक सम्पन्न है 'देवनागरी में जैसा कहा जाता है, वैसा ही लिखा जाता है, वैसा ही पढ़ा जाता है। भाषा वैज्ञानिक कहते हैं कि देवनागरी के वर्णों की बनावट भी बड़ी अनूठी है। यदि मिट्टी की अथवा लकड़ी या प्लास्टिक की खोखली नली को मोड़कर देवनागरी वर्णों की आकृति बनाकर उनमें हवा फूंकी जाए, तो उसी वर्ण की ध्वनि उत्पन्न होती है। प्रत्येक भाषा का अपना साहित्य होता है, जिसकी सम्पन्नता उस भाषा के मूल स्वरूप को परिभाषित करती है। वेद, पुराण, और ज्योतिष जैसा समृद्ध साहित्य विश्व की किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। साहित्य, संगीत कला-विज्ञान और गणित से भरपूर संस्कृत साहित्य के अध्ययन और उपयोग से दुनिया को वंचित रखा जा रहा है। संस्कृत भाषा व्याकरण इतनी समर्थ है कि अंग्रेजी भाषा में लिखे गये दस पृष्टों की विषयवस्तु को केवल एक पृष्ठ में समा सकती है। शब्द विन्यास और वाक्य विन्यास के इतने तरीके उपलब्ध है कि कोई भी तथ्य आसानी से श्लोकबद्ध किया जा सकता है। क्योंकि श्लोक गेय होते हैं। इसलिए जटिल से जटिल तथ्य भी आसानी से आत्मसात् किए जा सकते हैं। विश्व की हजारों भाषाएं यदि सोना-चांदी है, तो संस्कृत हीरा है। ये हीरा अपने ही घर में उपेक्षित क्यों है। दूसरी ओर हिंदी का एक ऐसा रूप है। जिसमें अरबी और फारसी शब्दों की बहुलता होती हैं। लेकिन आठ व्याकरणीय पदों में से केवल दो ही पद संज्ञा और विशेषण गैर भारतीय भाषाओं से होते

है। अर्थात् यह तब भी हिंदी ही होती है। यह भवन सुन्दर दिखाई देता है और यह इमारत खूबसूरत दिखाई देती है। दोनों वाक्यों में मौलिक रूप से कोई अन्तर नहीं है। संस्कृत भाषा जिनकें सम्मुख अंग्रेजी सहित दुनिया की हर भाषा स्वंय के बौनेयन का अनुभव करती है। उसकी स्वतंत्र भारत में ऐसी उपेक्षा हुई है। जैसी ब्रिटिश इंडिया में भी नहीं हुई थी। यूरोप, अमेरिका और ऑस्ट्रेलिया सहित विश्व के अनेक अन्य देश संस्कृत भाषा के महत्व को पहचान रहें है। और संस्कृत भाषा को पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर रहें है। लेकिन भारत में संस्कृत शासकीय उपेक्षा का दंश झेल रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि निकट भविष्य में विश्व के अनेक देश संस्कृत शिक्षा (जैसे कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग आदि) से जोड़ेगी और तब उसे संस्कृत के विद्वानों की आवश्यकता होगी।

संदर्भ ग्रथं-

1. संस्कृति साहित्य - भारतेश कुमार मिश्र - पेज न.-43-44
2. राजभाषा - डॉ. जय प्रकाश कर्दम - पेज न.-24-26
3. संस्कृति और साहित्य का विकास - ओमप्रकाश वशिष्ठ -37-38

प्रवक्ता हिन्दी विभाग,
हे.न.बहु. गढवाल केन्द्रीय, विश्वविद्यालय,
श्रीनगर गढवाल

✦✦✦

छायावादी काव्य में हिन्दी और संस्कृत का अन्तः सम्बन्ध

–गौरीश नन्दनी काला

1916 से 1936 तक की प्रायः सभी रचनाओं को जो स्वानुभूति प्रधान हैं जिनमें प्रकृति एवं स्वतन्त्र चेतन व्यक्तित्व लिए हुऐ हैं। जिसमें नारी सौन्दर्य के प्रति विशेष आकर्षण विद्यमान है जिनमें किसी अज्ञात् परम सौन्दर्य के प्रति भावनापूर्ण जिज्ञासा और आकर्षण दृष्टीगोचर होता है जिसमें राष्ट्रीय गौरव का स्वर मुखरित होता है। जिसमें मानव को महत्वता पर बल दिया जाता है। जो स्वछंद प्रेम की समर्थक है। जिनके अभिव्यंजना पक्ष में लक्षणा, व्यंजना और प्रतीकों का बाहमूल्य है। जिनमें जीवन की भावना की दृष्टि से देखा गया है यह सब छायावादी काव्य की रचनाओं में आता है।

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक सुन्दर कोष है हिन्दी काव्य में रचनाकार संस्कृत भाषा से प्रभावित रहा है।

वेद, पुराण, उपनिषद, मनु-स्मृति, हितोपदेश, पंचतंत्र आदि ने दार्शनिक साहित्यिक प्रेरणाऐं दी हैं। छायावादी कवि रामायण, महाभारत, श्रीमद्भगवतगीता आदि से अधिक प्रभावित है। यहां कवियों ने संस्कृत साहित्य से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

नारी और प्रकृति के सौन्दर्य चित्रण में निश्चय ही छायावादी काव्य वाल्मीकि, कालीदास और बाणभट्ट से प्रभावित है। प्रकृति के अंगों का मानवीकरण संस्कृत साहित्य में सबसे पहले मिलता है।

कन्याल्येकतो स्तशिखरं पतिरोषधीनां
माविष्कृतो अरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः
तेजोद्धयस्य यगपद व्यसनोदयाभ्याम्
लोको नियभ्यत इवात्मदशान्तरेषु।[1]

छायावादी कवियों ने संस्कृत साहित्य का तल्लीन होकर अध्ययन किया कवि वाल्मीकि, कवि कालिदास के काव्य की प्रकृति से बाणभट्ट की कादम्बरी के प्रकृति चित्रण से सबसे ज्यादा प्रभावित हुआ है।

प्रकृति का चित्रण अपनिवदा में इस प्रकार मिलता है

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्त
वाहु शशिसुर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशववत्रं स्वेतजसा
विश्वमिदं तपन्तम्।।[2]

(तुम्हारा आदि मध्य और अवसान नहीं है तुम अत्यंत शक्तियुक्त और अनन्त भुजाओं वाले हो सूर्य चन्द्र तुम्हारे नेत्र हैं, दीप्त अग्निमुख है। अपने तेज से विश्व को उद्भासित करने वाले! मैं तुम्हें देख रहा हूँ।)

जिस प्रकार प्रकृति और सौन्दर्य का चित्रण संस्कृत में मिलता है उसी प्रकार जयशंकर प्रसाद की कामायनी में संस्कृत भाषा का हिन्दी अनुवाद है उन्होनें कामायनी में इसका वर्णन करते हुए लिखा है-:

पगती हाँ सम्भाल ले, कैसे छूट पड़ा
तेरा अंचल।
देख बिखरती है मणिराजी उठा अरी बेसुध
चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या ओ यौवन
की मतवाली।
देख अंकिचन जगत लूटता तेरी छवि
भोली-भाली।[3]

इसमें सौन्दर्य का वर्णन किया गया है।

संस्कृत का छायावाद में प्रेम पर भी प्रभाव पड़ा है। यहां पंत जी की गुंजन में स्पष्ट दिखाई देता है–

मिले रहें नवल वेलि-तरु प्राण
शुकी-शुक, हंस-हंसिनी संग।
लहर-सर, सुरभि-समीर विहान,
भृगी-भृंग कलि-अलि किरण-पतंग।[4]

पंत जी पे अभिज्ञानशाकुन्तलम में प्रेम का प्रभाव दिखाई पड़ता है

इसी प्रकार निराला की राम की शक्ति पूजा में भी संस्कृत का महत्व साफ दिखाई देता है। इसमें वाल्मीकि रामायण का प्रभाव दिखाई देता है। जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया गया है।

निराला के राम को भी परिणय-पूर्व का वह प्रथम मिलन स्मरण आ जाता है जिसमें उन्होनें जानकी के नेत्रों का अभिनव जनक वाटिका में देखा था-

ऐसे क्षण अंधकार धन में जैसे विधुत
जगी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक याद आया उपवन
विदेह का प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का नयनों से गोपन-प्रिय सम्भाषण
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन
काँपते हुए किसलय-झरते पराग-समुदाय
गाते खग नव-जीवन परिचय तरु मलय वलय
ज्योति प्रपात स्वर्गीय-ज्ञान दवि प्रथम स्वीय-
जनकी-नयन-कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय।[5]

महादेवी वर्मा काव्य में भी संस्कृत का प्रभाव दिखाई देता है। जिस प्रकार पहले रात्री का चित्रांकन किया जाता था प्रकृति के अंगों पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप करने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है

भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विश्वं गोरुप युवतिविभषि।
चक्षुस्पति में शती वपूषि प्रति एवं दिव्या नक्षत्रास्यमुक्थाः।।[6]

और महादेवी ने भी रात्री का सुन्दर वर्णन इस प्रकार किया है–

धीरे-धीरे उत्तर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी।
तारकमय नववेणी-बन्धन
शशिफूल कर शशि का नूतन,
रश्मि-वलय धन-अवमुण्ठन,
मुक्ताहल अभिराम विछा दे
चितवन से अपनी।
कुहकती आ बसन्त रजनी।[7]

निष्कर्ष-

अतः कहा जा सकता है कि छायावादी काव्य में हिन्दी और संस्कृत का अन्तः सम्बन्ध है, जैसे प्रकृति प्रेम, प्राकृतिक सौन्दर्य, अलंकार, छन्दों में रचना अधिकतर संस्कृत के शब्द तत्सम तदभव, रसों की प्रधानता, श्रृंगार, वीर रस की प्रधानता अतः दोनों हि काव्यों में कई समानताऐं मिलती हैं।

1. अभिज्ञानशाकुन्तलम, कालिदास, चतुर्थ अंक
2. उपनिषद

3. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, सन् 1974, पृ. 50
4. गुंजन, सुमित्रनन्दन पंत, भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, सन् 1972, पृ. 60
5. राम की शक्ति पूजा, निराला, भारती भण्डार, लीडर प्रेस इलाहाबाद, सन् 1977, पृ. 151
6. अथर्ववेद, पृ. 19-19-8
7. गीतपर्व, महादेवी वर्मा, प्रकाशन केन्द्र लखनऊ, सन् 1970, पृ. 93

(शोधार्थी - हे.न.ब. गढ़वाल वि.वि., बिड़ला परिसर, श्रीनगर, गढ़वाल)

✦✦✦

इतिहास ग्रन्थ के रूप में ऋग्वेद

–शशिकान्त

सारांश

सैंधव सभ्यता के पतनोपरान्त भारतीय उपमहाद्वीप के पटल पर आर्यों का उत्थान हुआ। आर्यों की मूल उत्पत्ति के बारे में इतिहासकारों द्वारा विशद् चर्चाएं की गई हैं। आर्यों का इतिहास लिखित रूप में जितना पढ़ा गया है वह वेदों से ही है। कालान्तर में यह अवधारणा जन सामान्य में प्रचलित हो गयी कि वेदों का सृजन देवताओं द्वारा किया गया। अवधारणाओं से परे यह सर्वमान्य तथ्य है कि ऋग्वेद भारतीय उपमहाद्वीप में लिखित इतिहास या साहित्य की सर्वप्राचीन कृति है। प्रत्येक साहित्य अपने में समकालीन समाज में प्रचलित के सभी पक्षों को अपने में समाहित किये हुए रहता है। इस कथन के परिप्रेक्ष्य में यह भी कहना स्वत: सिद्ध होगा कि ऋग्वेद वैदिक काल के समाज को जानने का एक सशक्त साधन होगा।

उद्देश्य

ऋचाओं की बहुलता वाले ऋग्वेद से तत्कालीन समाज के धार्मिक पक्ष पर सौरसम प्रकाश पड़ता है और उसका शशिसम शीत प्रकाश इतिहास की एक धवल झलक प्रस्तुत करता है। वैदिक काल की राज–व्यवस्था व सामाजिक व्यवस्था का विशद् विवेचन इस संहिता में मिलता है। अधोलिखित लेख में ऋग्वैदिक सभ्यता के सामाजिक व्यवस्था, राजनैतिक, धार्मिक आदि उद्धरणों को उद्धृत करते हुए ऋग्वेद का ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में विवेचना की गई है।

मूल शब्द

वैदिक सभ्यता, ऋग्वैदिक सभ्यता, ऋचा, सूक्त, आर्य, संहिता, वैदिक संस्कृत, बोस्ट्रोफेदान।

इतिहास ग्रन्थ के रूप में ऋग्वेद

इतिहास ज्ञान की एक प्रतिष्ठित शाखा है। इतिहास के अध्ययन से जहां व्यक्ति अपने अतीत के साथ जुड़ जाता है वहीं वह इतिहास के कटु एवं मधुर अनुभवों को जीवन में उतार करके अपने वर्तमान एवं भविष्य को भी समृद्ध बनाता है। इतिहास दो शब्दों से

मिलकर बना है। इति और हास। डॉ. नगेन्द्र के अनुसार "शाब्दिक दृष्टि से इतिहास का अर्थ है, ऐसा ही था या ऐसा ही हुआ। इससे दो बातें स्पष्ट है कि एक तो यह कि इतिहास का सम्बन्धा अतीत से है दूसरे यह कि इसके अन्तर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का ही समावेश किया जाता है।"[1] इतिहास के जनक हेरोडोट्स (456-445 ई.पू.) ने इतिहास को मानवीय, वैज्ञानिक तर्कसंगत एवं शिक्षाप्रद विद्या मानते हुए अनुसंधान के अर्थ में प्रयुक्त किया है। परन्तु भारतीयों का इतिहास दर्शन आध्यात्मिकता के मजबूत आवरण से आवरित है। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति करना ही भारतीय इतिहास लेखन का प्रमुख लक्ष्य रहा है। डॉ. कौलेश्वर राय के अनुसार, "मूल भारतीय चिंतन अनिवार्य रूप से दु:खों के आत्यंतिक विनाश अथवा मुक्ति की ओर उन्मुख रहा है। यहां धर्म और दर्शन पर अधिक बल दिया गया है। यहां राज्यों अथवा राजाओं का इतिहास लेखन उनके अधिकारियों का उत्तरदायित्व समझा जाता था। सम्पूर्ण संस्कृति इसके प्रति अधिक रूचि नहीं रखती थी।"[2] भारतीय उपमहाद्वीप में स्थायी रूप से सभ्यता के स्पष्ट साक्ष्य सिंधु सभ्यता से मिलने प्रारम्भ होते हैं। पुरातात्विक अवशेषों एवं अनुसंधानों से सिंधु सभ्यता की समय सीमा 2000-3000 ई. पू. के मध्य मानी जाती है। सिंधु सभ्यता के उत्खनन से लिपि के साक्ष्य मिले हैं। परन्तु दायीं से बायीं ओर लिखी जाने वाली इस बोस्ट्रोफेदान लिपि की अपठनीयता के कारण तत्सम्बन्धी इतिहास लेखन के लिए इतिहासकारों को पुरातात्विक वस्तुओं एवं तत्कालीन अन्य सभ्यताओं से तथ्य जुटाने पड़ते हैं।

सिंधु सभ्यता के पतन के साथ ही भारत में वैदिक सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। डॉ. के. सी. श्रीवास्तव के अनुसार, "सैंधव सभ्यता के उपरान्त भारत में जिस नवीन सभ्यता का विकास हुआ उसे वैदिक अथवा आर्य सभ्यता के नाम से जाना जाता है। भारत का इतिहास एक प्रकार से आर्य जाति का इतिहास है। आर्यों का इतिहास हमें वेदों से प्राप्त होता है। जिसमें ऋग्वेद सर्वप्राचीन होने के कारण सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति है।

ऋग्वेद हिन्दू धर्म का पवित्र ग्रन्थ है। ऋग्वेद का रचनाकाल इतिहासकारों के विविध मत होने के कारण अनिश्चित ही रहा है। परन्तु सामान्य रूप से यह समय सीमा 2000-1000 ई.पू. तक ही मानी जाती है। "छन्दोबद्ध मंत्रों को ऋक् या ऋचा कहते हैं, मंत्र शब्द का अर्थ गुप्त कथन है। वेद 'विद्' धातु से निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है ज्ञान। संहिता संग्रह को कहते हैं। इसलिए ऋग्वेद संहिता का शाब्दिक अर्थ हुआ, उस देव-विषयक अति गूढ़ ज्ञान का प्रतिपादन जो छन्दों में संग्रहित है।"[3] प्राचीन रचना होने के साथ-साथ ऋग्वेद एक विशाल ग्रन्थ भी है। इसमें 10600 मंत्रों का संकलन 10 मण्डलों में विभाजित करके किया गया है। इन मण्डलों में निहित मंत्रों को भी 1028 सूक्तों में विभाजित किया गया है। ऋग्वेद की रचना के सन्दर्भ में भी दो प्रकार के मत पाये जाते हैं। प्रथम मत के अनुसार ऋग्वेद की रचना अलग-अलग समय में ऋषियों द्वारा मंत्रों का प्रत्यक्षीकरण करके की गयी है। अत: यह रचना एक अपौरूषेय कृति है तथा परमात्मा के द्वारा प्रेषित किया गया ज्ञान है। द्वितीय मत के अनुसार ऋग्वेद एक विजुद्ध साहित्यिक ग्रन्थ

है तथा इसकी रचना आर्य कवियों के द्वारा की गयी है।

ऋग्वेद वैदिककालीन सभ्यता का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के अन्तर्गत स्तुतिपरक मंत्र, प्रकृति वर्णन, युद्ध वर्णन एवं विविध संवादों का समावेश किया गया है। वैदिक सभ्यता के इतिहास का यह प्रारम्भिक कालखण्ड ऋग्वैदिक काल के नाम से भी जाना जाता है। ऋग्वेद वैदिक सभ्यता की आरम्भिक शताब्दियों में सृजित हुआ था। साहित्य समाज का दर्पण होता है एवं समाज की छवि निश्चित रूप से साहित्य में प्रतिबिंबित होती है। आचार्य शुक्ल के अनुसार, "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता के चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन आता है।"[4] ऋग्वेद की रचना विविध शताब्दियों में हुई है फलतः वह अपने में समस्त वैदिक सभ्यता का इतिहास भी समाये हुए है। ऋग्वेद के अनुशीलन से यह स्पष्ट होता है कि ऋग्वेद मात्र वैदिक सभ्यता ही नहीं अपितु उसकी पूर्ववर्ती सभ्यताओं के ऐतिहासिक स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है। ऋग्वेद इतिहास के उस संक्रमणकालीन समय का भी प्रतिनिधित्व करता है जब आर्य संस्कृति का अनार्य संस्कृतियों से परस्पर संघर्ष एवं सम्मिलन चल रहा है। आर्य सभ्यता पूरी तरह से स्थापित नहीं हो पायी थी। "ऋग्वेद में कहा गया है कि आर्यों को ऐसे लोगों से लड़ना पड़ा जिनके नगर के चारों ओर दीवारें थी। यह बताया गया है कि सिंधु सभ्यता के लोग वही थे जिनका उल्लेख ऋग्वेद में हुआ था।"[5] सिंधु सभ्यता के उत्खनन से भी दुर्ग एवं प्राचीरों के अवशेष मिलना ऋग्वेद के इस तथ्य की पुष्टि करते हुए उसकी ऐतिहासिक वृत्ति में विश्वसनीयता की वृद्धि करते हैं। विविध मंत्रों में अनार्य जातियों की संस्कृति पर भी प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में दास-दस्युओं का उल्लेख है। यह अस्पष्ट भाषा बोलने वाले, यज्ञ न करने वाले एवं पुर में रहने वाले लोगों का वर्णन है। सिंधु सभ्यता की पृथक लिपि भाषा लिंग पूजा की प्रवृत्ति भी ऋग्वेद के मंत्रों में वर्णित आर्य अनार्य संघर्ष को प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। यह दास-दस्यु, शिश्न देवा अर्थात् लिंग की पूजा करने वाले हैं जिनका इन्द्र ने नाश किया था-

(1) न यातव इन्द्र जूजुवुर्नो न वन्दना शविष्ठ वेद्याभिः।
स रार्धदर्यो विष्णुस्य जन्तोर्मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः॥

(ऋक् 7/21/5)

(2) अनर्वा यच्छतदुरस्यः वेदों घ्नं शिश्नदेवाँ अभि वर्पसाभूत॥

(ऋक् 10/99/3)

वैदिक सभ्यता के स्थापित होने, उनके भौगोलिक परिवेश का इतिहास भी ऋग्वेद के माध्यम से ही अनावृत होता है। विविध ऋचाओं में नदियों, पर्वतों एवं मैदानों का स्पष्ट वर्णन मिलता है। ऋग्वेद के सूक्तों में प्राप्त भौगोलिक तत्वों के महत्व पर प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि "ऋग्वेद के एक भाग में जहां ऊषा के सूक्त हैं, पंजाब

के अद्‌भुत सौन्दर्यशाली प्रातःकाल की झांकी मिलती है लेकिन उसके अधिक भाग में बिजली मेघों और पर्वतों में घनघोर वर्षा के रूप में रौद्र प्रकृति का वर्णन है जो पंजाब में नहीं ब्रहमावर्त के प्रदेश में पायी जाती हैं। जहां सरस्वती और दृषद्वती नदियां बहती हैं। यही ऋग्वेद का अधिकांश भाग होना चाहिए।"[6] इस प्रकार की वर्णन विविधता से इतिहास को आर्यों के प्रसार को समझने में पर्याप्त सहायता मिलती है।

ऋग्वैदिक समाज के संदर्भ में ऋग्वेद की ऋचाएं अत्यंत मुखर हैं। वर्तमान में प्रचलित अनेक प्रथाएं, परम्पराएं वर्तमान हिन्दू समाज को वैदिक सभ्यता के समाज से जोड़ती हैं। इस उर्ध्वाकार इतिहास के तुलनात्मक अध्ययन में ऋग्वेद की भूमिका निःसंदेह निर्धारक की है। हिन्दू समाज की वर्ण व्यवस्था, दहेज प्रथा, संस्कार पद्धति एवं यज्ञ अनुष्ठान आदि की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का सीधा-सीधा उत्तर ऋग्वेद में ही प्राप्त होता है। वर्ण व्यवस्था पर ऋग्वेद के दशम् मण्डल में पुरूष सूक्त के अन्तर्गत एक ऋचा दृष्टव्य है-

ब्राहमणोंऽस्य मुखमासीद बाहूराजन्यः कृतः।
उरूतदस्य यद्वैश्य पदभ्या शूद्रो अजायत॥ (ऋक् 10/90/12)

उक्त सूक्त का अर्थ है कि विराट पुरूष के मुख से ब्राहमणों, बाहुओं से क्षत्रियों की, उदर से वैश्यों की तथा पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई। दशम् मण्डल अर्वाचीन है जबकि इसके पर्ववर्ती मण्डलों में तीन वर्णों तथा दासों का उल्लेख मिलता है। इससे सामाजिक व्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों पर सूक्ष्म प्रकाश पड़ता है। वर्ण व्यवस्था के जन्म आधारित हाने की प्रथा एवं वर्ण से जाति तक इस वृहद् ऐतिहासिक यात्रा का उत्स ऋग्वेद के अन्तर्गत ढूंढा जा सकता है। तत्कालीन समाज में महिलाओं की दशा का विशद् विवरण भी ऋग्वेद के आधार पर मिलता है। अविवाहित स्त्री को पितृ सम्पत्ति में भाग मिलता था-

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानदा सदस्सत्वामिये भगम।

दहेज प्रथा का प्रचलन वैदिक समाज में था। इसे यातुक धन कहा जाता था। ऋग्वेद सती-प्रथा एवं नियोग प्रथा पर भी प्रकाश डालता है (10-18-8)। सती-प्रथा जहां संकेत मात्र में व्याप्त थी वहीं नियोग प्रथा भी अनेक मर्यादाओं से मर्यादित दिखायी पड़ती है।

समाज में विवाह के सम्बन्ध पवित्र एवं मजबूत थे। "वैदिककालीन समाज में विधवा विवाह एवं पुनर्विवाह का प्रचलन नहीं था। ऐसा अधिकांश विद्वानों का मत है। सम्भवतः कोई भी श्रेष्ठ अथवा आर्य व्यक्ति उस विषय में विचार भी नहीं करता था।"[7] आर्य संस्कृति की पशुचारी या ग्रामीण संस्कृति होने का निर्णय भी ऋग्वेद के संदर्भ में ही लिया जाता है। कृषि एवं पशु चरागाहों की खोज के विविध सूक्त इस धारणा को पुष्ट करते हैं। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में कृषि कार्यों पर सूक्त पाये गये हैं। "आर्य अधिकतर खेती करते थे इसलिए कृषि या खेती को महत्वपूर्ण समझा जाता था। खेती बैलों और सांडों की सहायता से की जाती थी। जुती हुयी भूमि को उर्वर या क्षेत्र कहते थे।"

पणि जाति के लोग व्यापार में लिप्त रहते थे। ऋग्वेद में पणियों द्वारा इन्द्र की गायों को चुराने के उपाख्यान मिलते हैं। सरमा-पणि संवाद (ऋग्वेद 10/108/1-11) में यह घटना अत्यंत उत्कृष्ट ढंग से प्रस्तुत की गयी है। इसके अतिरिक्त लघु उद्योगों तथा चतुर्वर्णों के कर्मों पर भी ऋग्वेद वृहद् प्रकाश डालता है।

भारत की प्राचीनतम राजनीतिक व्यवस्था के इतिहास पर भी ऋग्वेद की ऋचाएं साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। ऋग्वैदिक राजव्यवस्था कबिलाई पद्धति की थी परन्तु राजा की सहायता के लिए सभा और समिति की व्यवस्था प्रचलन में थी। अधोलिखित सूक्त में समिति का उल्लेख मिलता है-

यत्रोषधीः समग्मत राजानः समितामिव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥ (ऋक् 10/97/6)

यह भारत में लोकतन्त्र सह-राजतन्त्र व्यवस्था के प्राचीनतम् इतिहास का प्रमुख प्रमाण है। ऋग्वैदिक काल में चारागाहों एवं प्रभाव की वृद्धि के लिए आर्य एवं अनार्य में संघर्ष होता रहता था। दशराज्ञ युद्ध इसका उत्कृष्टट उदाहरण है। ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के 18वें, 33वें एवं 83वें सूक्त में इस युद्ध का वर्णन पाया जाता है। दशराज्ञ युद्ध में विजित राजा सुदास के कबीले 'भरत' के नाम पर ही 'भारत' संज्ञा का प्रयोग प्रारम्भ हुआ था।

ऋग्वेद में प्रयुक्त वैदिक संस्कृत इतिहास को भाषा के माध्यम से जानने का मार्ग प्रशस्त करती है। वेदों में वैदिक संस्कृत का प्रयोग किया गया है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के डॉ. राजमणि शर्मा के अनुसार, "वैदिक भाषा का युग ई.पू. 2500 से 1000 ई. तक माना जाता है इस समय तक आर्यों की सत्ता मध्य प्रदेश में स्थापित हो चुकी थी और धीरे-धीरे इधर-उधर दक्षिण पूर्व की ओर फैलने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी। इससे एक तरफ आर्यों की सत्ता का विकास हुआ तो दूसरी तरफ उनकी भाषाओं का भी अर्थात् विभिन्न स्थानीय भाषाओं के परस्पर सम्पर्क से आर्यों की भाषा के विभिन्न स्थानीय रूप भी बनने लगे।"[8] स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक संस्कृत से जहां वैदिक सभ्यता की सीमा रेखा खींचने में सहायता मिलती है वहीं आर्य जाति के प्रसार एवं अन्य संस्कृतियों से सम्पर्क के पुख्ता प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।

अनुसंधानों से ज्ञात होता है कि वैदिक संस्कृत अवेस्ता के ज्यादा निकट है। इससे आर्य जाति का ईरानियन सभ्यता से सम्पर्क पर प्रचुर मात्रा में प्रकाश पड़ता है। साथ ही आर्यों के भारत में प्रवेश की गुत्थी को भी समझने में सहायता मिलती है।

ऋग्वेद का मूल विषय उपासना है। यह हिन्दू धर्म का प्रथम बिन्दु है। भारतीय संस्कृति के धार्मिक इतिहास की अजस्र धारा का उत्स ऋग्वेद में ही निहित है। वर्तमान हिन्दू धर्म के इन्द्र, वरूण, अग्नि, सूर्य व विष्णु आदि देवताओं का विकास ऋग्वेद से ही हुआ है। वामन अवतार के उदाहरण विष्णु सूक्त में देखे जा सकते हैं। एकदेववाद, बहुदेववाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि का सुन्दर स्रोत वेदों में मिलता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में

आत्मा-परमात्मा को दो सुन्दर पक्षियों के रूप में वर्णित किया गया है जो एक ही वृक्ष पर विराजमान हैं नि:सन्देह यह द्वैतवाद का ऐतिहासिक साक्ष्य है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्पनश्ननन्यो अभिचारुशीति॥ (ऋक् 1-64-20)

नदियों को ऋग्वेद में सम्मानजनक स्थान दिया गया है। यह परम्परा आज भी धार्मिक क्षेत्र में प्रबलता से विद्यमान है। यदि आर्य सभ्यता का धार्मिक इतिहास लिखने का प्रयास किया जाता है अथवा वर्तमान भारतीय उपमहाद्वीप की धार्मिक परिस्थितियों पर विचार किया जाए तो ऋग्वेद के अभाव में यह सम्भव नहीं हो सकता है।

उपरिलिखित विषय वस्तु के निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद एक ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में भारतीय साहित्य में अग्रणी है। कालान्तर में मगध साम्राज्य के उत्थान के फलस्वरूप उत्तर भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई। अपने गौरवशाली स्वरूप के कारण मगध का इतिहास बाद में सम्पूर्ण भारत के इतिहास का प्रतिनिधित्व करता है। ध्यान देने वाला तथ्य यह है कि मगध का इतिहास अधिकांशत: तत्कालीन धार्मिक सहित्य से प्राप्त होता है। इसी प्रकार ऋग्वेद सर्वमान्य व सर्वप्राचीन धार्मिक ग्रन्थ होते हुए भी वैदिककालीन भारत के इतिहास में झांकने का प्रारम्भिक प्रतिनिधि ग्रन्थ है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, 2009, मयूर पेपरबैक्स नोएडा, पृष्ठ सं.19
2. डॉ. कौलेश्वर राय, इतिहास दर्शन, 2004, किताब महल, इलाहाबाद, पृष्ठ सं.156
3. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, 1960, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी।
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, 2009, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं.1
5. वी.डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 2004, एस. चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.65
6. राधाकुमुद मुखर्जी, हिन्दू सभ्यता, हिन्दी अनुवाद-वासुदेवशरण अग्रवाल, 1990, राजकमल प्रकाशन, पृष्ठ सं.83
7. डॉ. नीरू, साहित्य भण्डार, मेरठ, पृष्ठ सं.63
8. डॉ. राजमणि शर्मा, आधुनिक भाषा विज्ञान, 2007, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ सं.140

(शोधार्थी, हिन्दी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, विश्वविद्यालय, हरिद्वार)

✦✦✦

गढ़वाली लोकसाहित्य में राजनीतिक प्रभाव

–डॉ. सरिता कैंतुरा

उत्तराखंड भारत का 27वां राज्य है। इसका गठन भारत शासन ने 9 नवंबर, 2009 को किया था। उत्तराखंड ने अपने पृथक अस्तित्व के लिए लंबी लड़ाई लड़ी। आरक्षण के विरुद्ध हुआ संघर्ष अलग राज्य की मांग में परिवर्तित हुआ और वर्षों तक चले इस आंदोलन में लगभग 30 लोग शहीद हुए और अनेक घायल हुए। अंतत: 2009 में 70 विधानसभा सीटों के साथ अलग से पहाड़ी राज्य बनाया गया और नित्यानंद स्वामी अंतरिम सरकार में मुख्यमंत्री बनाए गए। गढ़वाल और कुमाऊं इस राज्य के दो भाग हैं। गढ़वाल को केदारखंड और इलावृत्त आदि नामों से भी जाना जाता रहा है। गढ़वाल का लोकसाहित्य पर्याप्त रूप से समृद्ध है। इसमें न केवल यहां के धर्म, अध्यात्म, अर्थ और मानवी भावनाओं का सुंदर चित्रण हुआ है, बल्कि यहां प्राचीन और वर्तमान राजनीति में व्याप्त छल–छद्म, ईर्ष्या और भ्रष्टाचार का भी बखूबी प्रतिबिंबन हुआ है।

लोकसाहित्य किसी क्षेत्र का संपूर्ण चित्रण होता है। वह संबंधित समाज के मनोभावों का मौखिक प्रस्तोता होता है। लोकसाहित्य के सृजन में समस्त समाज का हाथ होता है।

कोई भी लोक जिसे मौखिक रूप में अभिव्यक्त करता है, वह वहां का लोकसाहित्य कहलाता है। इसके अंतर्गत लोक का हर्ष–विषाद, कष्ट, हास–परिहास आदि भावनाओं की अभिव्यक्ति आती है। लोकसाहित्य की अभिसृष्टि में एक व्यक्ति विशेष का नहीं, बल्कि संपूर्ण लोक की भूमिका होती है इस प्रकार यह व्यक्ति विशेष की नहीं, बल्कि संपूर्ण लोक की धरोहर, संपत्ति–थाती बन जाती है।[1]

गढ़वाल के लोकसाहित्य के अंतर्गत लोकगाथाओं और लोकगीतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये यहां के लोकसाहित्य के अभिन्न अंग हैं।

लोकगाथा पौराणिक आख्यान है। ऐसा आख्यान, जो गाकर प्रस्तुत किया जाता है। अर्थात् लोक गाथा गीतों के रूप में गाकर कही जाने वाली कथा है, जिसमें प्राचीनता, ऐतिहासिकता, भक्ति, साहस और धर्म के तत्त्व समाविष्ट होते हैं। आख्यानमूलक इस गेयता में सच और कल्पना का सुंदर–आकर्षक समन्वय होता है।[2]

लोकगीतों में लोक की भावनाएं और अनुभव समाहित होता है। वे समाज के साक्षी होते हैं। वे सच्चे और शुद्ध होते हैं। उनमें परंपराओं और आख्यानों का समावेश होता है। इतिहास को लेकर चलने वाले लोकगीतों में राजनीति का स्वरूप भी विद्यमान रहता है।

लोकगीतों को एक साथ कई कार्य निभाने होते हैं। भावात्मक अभिव्यक्ति के अतिरिक्त भी उन्हें कई और प्रकार्य करने होते हैं, जैसे-जादू-टोना, पूजा-पाठ, प्रणय निवेदन, आत्म कथन तथा श्रम, पीड़ा आदि की अभिव्यक्ति। यही नहीं, संगीत और नृत्य में भी उसकी भूमिका मुख्य होती है। वस्तुतः लोक साहित्य केवल साहित्य नहीं है- वह उसके अतिरिक्त धर्म, इतिहास, पुराण, आख्यान तथा आत्मकथा भी सभी कुछ है।[3]

गढ़वाली लोकसाहित्य के अंतर्गत अनेक लोकगाथाओं में राजनीति का चित्रण मिलता है। पवाड़ों के अंतर्गत पांच भाई कैठत नामक पवाड़े में तत्कालीन मलिन और कलुषित राजनीति के दर्शन होते हैं। 17वीं शताब्दी में गढ़वाल में पंवारवंश की राज्य व्यवस्था में पांच भाई कठैतों ने जनता का बड़ा शोषण किया था। अंत में उन्हें मार दिए जाने पर प्रजा को उनके शोषण से मुक्ति मिल पाई थी। गढ़वाल राज्य में पांच भाई कैठतों के अत्याचार-अन्याय से यहां की जनता त्रस्त रही। रानी के मायके से आए इन लोगों ने गढ़वाल की प्रजा पर दर्जनों कर लगाकर अमानवीय कृत्य किया। गढ़वाल में त्राहि-त्राहि मच गई। अंत में 'बुरे का बुरा ही होता है' के सिद्धांत के अंतर्गन इन पांचों को मार डाला गया और जनता को इनसे मुक्ति मिल गई।[4]

ये पांच भाई कठैत मेदिनीशाह राजा की रानी के मायके कांगड़ा से हरक सिंह कठैत (कटोच) के साथ यहां आए थे। ये पांचों (भगवत सिंह, आलम सिंह, महीपत सिंह, दयाल सिंह और कलम सिंह) हरक सिंह के पुत्र थे।

पवाड़ों में इनके नाम माधों सिंह, खड़क सिंह, मेल सिंह, जसो सिंह और भगोत सिंह बताए गए हैं।[5]

मेदिनीशाह (1676-1699) की मुत्यु होने पर उनके पुत्र फतेशाह को सिंहासनरूढ़ होना पड़ा, पर राजकुमार के अपरिपक्व होने के कारण राजमाता को शासन की बागडोर अपने पास रखनी पड़ी। राजमाता इन पांच भाई कठैतों पर बहुत विश्वास करती थी, परंतु इन लोगों ने इसका अनुचित फायदा लिया। इन्होंने राजमाता को गढ़वाली लोगों के विरुद्ध भड़का दिया और राज्य के विभागों को अपने नियंत्रण में कर लिया। उन्होंने स्यूंदी सुप्पा, गाडतर, धुरपला, हलसुंगा, जनेऊ और चूल्हा कर जैसे अनुचित कर लगा दिए। प्रजा का जीवन यापन दूभर हो गया।

इनका अन्याय और शोषण बढ़ता ही गया। अन्याय और हित साधने के मार्ग में जो भी अवरोध बनता, उसे वे हटा लेते। उन्होंने इसके तहत वजीर शंकर डोभाल और गजे सिंह भंडारी की हत्या कर दी। इनके पाप की पराकाष्ठा हो गई तो लोगों का रक्त उबलने लगा। राजमाता को इनके षड्यंत्र पाप का पता चला तो उन्होंने इन्हें मरवाने के लिए भड़ बुलवाए। उन्हें पंचभैया खाल में मार दिया गया।

इसी प्रकार रिखोला लोदी के पवाड़े में तत्कालीन राजनीतिक षड्यंत्र और ईर्ष्या का ज्वलंत निदर्शन होता है। गढ़वाल के राजा मानशाह के काल में एक बार तपोवन क्षेत्र को

लेकर दिल्ली, सिरमौर और गढ़वाल के राजा में विवाद हुआ। राजा ने भौ सिंह भड़ को युद्ध लड़ने के लिए बुलाया। वह सिरमौर के राजा से लड़ा, लेकिन अंत में उस राजा और उसके नाई के हाथों षड्यंत्र के तहत मारा गया। वे गढ़वाल के राजा का बदरीनाथ का झंडा और कैलापीर का नगाड़ा साथ ले गए। गढ़वाल के राजा को उसके मुसद्दियों ने षड्यंत्र के तहत सलाह दी कि जिस भड़ के कारण ये वस्तुएं सिरमौर गई हैं, उसीके बेटे से मंगवाई जाएं। भौ सिंह के बेटे रिखोला को वहां भेजा गया। वह इसमें सफल रहा। इसके बाद वह दिल्ली के राजा के यहां से दरवाजा भी लेकर आया, पर जिस भाले के कारण उसे दरवाजा लाने में सफलता प्राप्त हुई थी, वह दिल्ली ही छूट गया था। मुसद्दी रिखोला की दरवाजा लेकर आने की सफलता पर जले हुए थे, इसलिए उन्होंने उससे भाला लाने को कहा। वह भाला लेकर लौट रहा था कि मुसद्दियों ने उसे रास्ते में मार डाला। उसकी मां अमरावती को कुछ अपशकुन का आभास हुआ। उसके प्राण उड़े नहीं थे। मां ने उसे गोद में रखा और उसके प्राण उड़ गए। आहत अमरावती ने श्राप दे डाला–आज के बाद गढ़वाल की इस धरती पर कोई भड़ पैदा न हो–

मां अमरावती तै अपशकुन ह्वेग्या
रोंदी बरांदी वा सिरीनगर पौंछी गए,
हे रजा तिन मेरो रिखोला कख भेजे
वो कखी बैर्यों का बीच पड़ीगे
तब माता अमरावती रिखोला खोजदी हरिद्वार पौंछीगे
मंगला जोती तैं भी ह्वैगे स्वीणो, वा अपणा नौना भानु
अर मोती लीक नौंछीगे स्वामी का पास
रिखोलान मां की गोद मा प्राण त्याग दिन्या।[6]

गढ़वाली लोकगाथाओं के साथ ही लोकगीतों में भी पहाड़ की राजनीति दशा के बखूबी दर्शन होते हैं। उत्तराखंड राज्य बनने के बाद राजधानी का मसला अभी तक सुलझा नहीं है। देहरादून को राज्य गठन के समय अस्थायी राजधानी बनाया गया, लेकिन अभी तक स्थायी राजधानी तय नहीं हो पाई है। गैरसैंण को केवल राजनीतिक हथियार के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है, जबकि देहरादून में अधिकारियों और नेताओं के जमावड़े के बीच यही एक प्रकार से स्थायी राजधानी मानी जाने लगी है, क्योंकि लोगों को लगने लगा है कि राजधानी का मसला मुश्किल ही सुलझ पाएगा। फिलहाल राजधानी होने के कारण इस शहर में भीड़ हो गई है। सुविधाओं के कारण पहाड़ का शिक्षक, कर्मचारी और अधिकारी देहरादून में रहने का आकांक्षी है। राजनीतिक कुचक्र के बीच रचे इस मसले पर एक गीत बहुत प्रचलित हो गया–सब्बि धाणी देरादूण, छांछ छोळे पाड़ मा घ्यूकि माणि देरादूण।[7] अर्थात् सभी वस्तुएं या सारे कार्य देहरादून में। दही मथकर घी बनाया तो उसे भी देहरादून ले जाते हैं।

गढ़वाल के प्रसिद्ध गायकों ने राजनीति के स्वांग पर जमकर व्यंग्य किए हैं। उन्होंने

व्यक्त किया है कि राजनीति का कोई धर्म नहीं होता। राजनेताओं को अपने हित के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं देता। उनका काम के उद्घाटनों में दीप प्रज्ज्वलित करना ही रहा गया है। उन्हें अपनी खबरें छपवाने और प्रसारित करवाने से फुर्सत नहीं। ये मोटे पेट और लंबे कुर्ते वाले लोग प्रजा के हिस्से भी डकार जाते हैं–

रिबन काटि द्यू जगांण, रोज उद्घाटनों मा जांण,
रेडियो मा सूंणा, टीबी मा देखा, अखबारों मा रळ्यां रंदन
भाषणबाजी कना रंदन,
मोटा पेटु का लंबा कुरतौं वाळा, हमारा तुमारा बांठा तैंइ
पट्ट खांण वाळा, हां भै चट्ट खांण वाळा.....।[8]

राजनीति के आडंबर वाले चरित्र पर गढ़वाली लोकसाहित्य पर खूब तंज कसे गए हैं। चुनाव के दौरान शराब बांट और परोसकर वोट हासिल करने वालों दल की कृत्यों पर एक गीत बहुत चर्चित हुआ। इसमें मांस–मदिरा का सेवन करने वाले नेताओं को सांकेतिक भाषा में ऐसा न करने की बात को उजागर किया गया है। नेता के मुंह से मतदाताओं को संबोधित करवाया गया है कि मैं तुम्हारी पशुशाला का ही पशु हूं, इस योनि में नेता हूं और मरने के बाद मेरा दूसरा जन्म होगा तो भी नेता के रूप में ही जन्म लूंगा–

दारू नि प्येंदु मी हे राम–राम, रम, रम, रम,
सिकार नि खांदू सिरी–सिरी,
नेता समाज सुधारक छौं मी,
भज गोविंदम भजो हरी।
तुमारा गोठ्यारो गोर छऊं मी
ख्याल रख्यां जरा देखचरी
ई जानम बी, तीं जोनम बी
नेता छौं नेता ही रौलु मरी, भज गोबिंदम भजो हरी।[9]

प्रजा को मात्र वोट समझने वाले राजनेताओं की भी आलोचना की गई है। कहा गया है कि नेताओं ने हमारी यह दशा कर दी है कि हम मनुष्य नहीं, केवल वोट बनकर रह गए हैं–

मनखि नि रयां दिदौं हम त वोट बणि गयां
जोड़–घटौ, भाग–गुणा तक ही रै गयां।[10]

उपरोक्त आधार पर सारांशत: कहा जा सकता है कि गढ़वाली लोकसाहित्य में यहां के राजनीतिक पक्ष का सुंदर चित्रांकन हुआ है। इस साहित्य के प्रस्तुति विधान में सहज निष्ठा झलकती है। राजनीति के कुरूप की आलोचना कर दर्शाया गया है कि यह प्रजा के हित में नहीं है। इसका एक संदेश यह भी प्राप्त होता है कि राजनेता अथवा शासक जनता का हितैषी होता है। उस पर प्रजा के हितों के संरक्षण और सुविधा प्रदान करने का महत्त्वपूर्ण

उत्तरदायित्व होता है। यदि वह इसके विपरीत आचरण करता है तो वह रक्षक नहीं भक्षक की श्रेणी में आता है। आकर्षक बिंब विधानों और रोचक भाषा तथा संगीत में राजनीति के एक पक्ष की आलोचना किए जाने पर साहित्यकारों और प्रस्तोताओं ने एक प्रकार से जनता को जागरूक करने का कार्य किया है। इस प्रकार किसी क्षेत्र का लोकसाहित्य वहां के राज्य-शासन तंत्र की वास्तविकता का उद्घाटन करने का महत्त्वपूर्ण और प्रभावी हथियार बन सकता है।

सन्दर्भ

1. डॉ. वीरेंद्र सिंह बर्त्वाल: गढ़वाली गाथाओं में लोक और देवता, पृ.-27
2. डॉ. वीरेंद्र सिंह बर्त्वाल: गढ़वाली गाथाओं में लोक और देवता, पृ.-31
3. डॉ. गोविंद चातक: गढ़वाली लोकगीत, आमुख, पृ.-iv
4. डॉ. वीरेंद्र सिंह बर्त्वाल: गढ़वाली गाथाओं में लोक और देवता, पृ.-134
5. डॉ. गोविंद चातक: गढ़वाली लोकगाथाएं, पृ.-448
6. डॉ. गोविंद चातक: गढ़वाली लोकगाथाएं, पृ.-335
7. प्रसिद्ध गीतकार नरेंद्र सिंह नेगी का गाया चर्चित और लोकप्रिय गीत
8. प्रीतम भरतवाण: सुर्ज कांठ्यों, पृ.-134
9. प्रसिद्ध गीतकार नरेंद्र सिंह नेगी का गाया गीत
10. प्रसिद्ध गीतकार प्रीतम भरतवाण के गीत का अंश

असि. प्रोफेसर-राजनीति विज्ञान, एनडब्ल्यूटी कॉलेज, रायपुर, देहरादून (उत्तराखंड)

✦✦✦

प्राचीन भारतीय इतिहास का संस्कृत के साथ अन्तः सम्बन्ध

–विनोद पण्डित

प्राचीन भारतीय इतिहास का संस्कृत साहित्य के साथ अटूट सम्बन्ध है। प्राचीन भारतीय इतिहास विषयक सामग्री प्राचीन संस्कृत साहित्य में ही मिलती है। इसीलिए संस्कृत साहित्य का उपयोग ऐतिहासिक-स्त्रोत के रूप में किया जाता है भारतीय संस्कृति की मूलभूत एकता की प्रतीक संस्कृत भाषा सम्पूर्ण रूप से योगदान दिया है। अतएव भारत की विविधता में मूलभूत एकता तथा भारतीय मेधा के ऐक्स का तात्पर्य संस्कृत की देशव्यापी प्रधानता है जो क्षेत्रीय विभिन्नताओं को लांघती हुई विचारों और भावनाओं के वास्तविक राष्ट्रीय स्वरूप की स्थापना करती है।

प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति के साथ तादाम्य इस बात से स्पष्ट है कि इस राष्ट्र का "भारतवर्ष" नामकरण प्राचीन संस्कृत साहित्य में ही मिलता है।

भारत राष्ट्र का नामकरण चक्रवर्ती नरेश भरत के नाम पर हुआ जैसा कि श्रीमद्भागवत में लिखा है।

येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीत्।
येनेदं वर्षे भारतमिति व्यपदिशन्ति॥

अर्थात् भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठपुत्र का नाम भरत था, इसी से इस देश को भारत कहते हैं।

एक अन्य से भी इसकी पुष्टी होती है
हिमा" दक्षिणं भरताय ददौपिता,
तस्माच्च भारतं वर्षे तस्य नान्मा महात्मनः।

अर्थात् हिमालय के दक्षिण का प्रदेश पिता ने भरत को दे दिया और इसी से इसका नाम 'भारतवर्ष' हुआ पुराणों में भी निरुक्त शास्त्र की दृष्टि से भी देश नाम की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है :-

भरणात्प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्त वचनैश्चैव वर्षे तद्भारत स्मृतं॥

विष्णुपुराण में इसका विस्तार इस प्रकार वर्णित है :-

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चेद दक्षिणम्
वर्षे तद्भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः।

अर्थात् समुद्र के उत्तर से हिमालय के दक्षिण तक के देश का नाम भारतवर्ष है, यहाँ के निवासी भरत की संतान है।

अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में भी कहा गया है कि यह मातृभूमि मनु की सन्तति के बसने का स्थान है।

जैन सिद्धान्त की मान्यता में भी प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने भारत की प्रजा को जीविकोपार्जन सम्बन्धी षटकर्मों का ज्ञान देने के कारण आदि मनी कहकर वंदित किया गया है। उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती द्वारा समस्त जम्बूद्वीप में एक छत्र राज्य की स्थापना के कारण ही समस्त भू-खण्ड को भारत की संज्ञा प्रदान की गई है-

अत्रपि भारतं श्रेष्ठं जम्बूद्वीपे महामुने
यतो ही कर्म भूरेषा ततो (न्याभोगभूमयः।

ऋग्वेद की ऋचाओं में उस युग के बहुत से जनों का उल्लेख मिलता है, विशेषतः जनों के पारस्परिक संघर्षों तथा दशराज्ञ युद्ध की चर्चा होती है।

ब्राह्मण युग में भारतीय जन का अन्तभवि कुरु, पांचाल के क्षत्रियों से होने लगा था, मात्र एक जनपद के रूप में 'भरत नाम प्रचलित रहा' प्राच्य भारत संज्ञा पाणिनीकृत अष्टाध्यायी में एक जनपद के रूप में प्रयुक्त हुई है, दौष्यन्ति भरत को भारत नाम की उत्पत्ति का मूलाधार स्वीकार किया जाने लगा, इनको गंगा व यमुना नदियों के पुनीत तटों पर क्रमश पचपन व अठहत्तर अश्वमेध-यज्ञ करने का श्रेय दिया जाता है।

भरत के चतुर्दिक व्याप्त प्रभाव की महिमा का गुणगान करते हुए यह कहा गया है कि सारी पृथ्वी जीतकर उन्होंने इन्द्र के लिए सहस्त्रों अश्वों का मेध्य किया, इससे सम्बन्धित गाथा में प्रयुक्त 'विजित्य पृथ्वी सर्वाम्' गम्भीर अर्थों की अभिव्यक्ति है। इसी से सम्बन्धित एक अन्य गाथा के अनुसार भरत के महत्व को न पहले और न बाद के जनों में कोई प्राप्त कर सका। ज्ञात होता है कि भरत नाम संलग्न इस विशाल चक्रवर्ती स्वरूप से जनता बहुत ही व्यापक रूप से परिचित हो गई थी, कुरू पांचालों की गौरव गाथा से सम्बन्धित काव्य महाभारत में भरतवंशोत्पन भारत और देशवची भारत का सम्बन्ध अंतिम रूप से निश्चित हो चुका था एवं उसमें भौगोलिक सूत्र "वर्ष" भारत भारतम् की गुंज सर्वत्र व्याप्त हो गई थी।

कालान्तर में मनु के अनुसार भारतीय आर्य संस्कृति का क्षेत्र "आर्यावर्त " कहा गया है अर्थात् हिमालय और विंध्याचल एवं पूर्व और पश्चिम के दो समुद्रों का प्रदेश, इसके अन्तर्गत कुरू, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन इन चार जनपदों का समुदाय अथवा ब्रह्मर्षि देश-उस संस्कृति का नामक था। पतंजलि के महाभाष्य में मध्यदेश शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जो कि गंगा एवं यमुना की अन्तर्वेदी का प्रतीक है।

मध्यदेश और आर्यावर्त नामों की यह परम्परा लौकिक संस्कृत एवं काव्य साहित्य में बराबर आगे चलती रही। वास्तव में मध्यदेश भारतीय भू-भाग का हृदय-देश है। भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग गुप्तकाल में भी मध्यदेश चतुर्दिगंत में प्रसिद्ध हो गया था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारतीय संस्कृति का दिव्य प्रकाश ब्रह्मदेश है प्रारंभ होकर गंगा-यमुना की अन्तर्वेदी में फैलता हुआ कोसल से विदेह और बंग तक व्याप्त हो गया।

देश के नामकरण की दूसरी धारा ऋग्वेदीय "सिंधु" शब्द है। ऋग्वेद में सिंधु शब्द उस विशाल नद की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हुआ है जो भारत के पश्चिमोत्तर भूगोल की महान विशेषता है। सिंधु के पार का वह क्षेत्र भी जहाँ पानी ढल कर सिंधु क्षेत्र में आता है और जिसमे काबुल, सुस्वात, कुर्रूम आदि नदियाँ है सदैव भारतीय सीमा के अन्तर्गत माना जाता है अफगानिस्तान बदख्शां और पामीर का प्राचीन भूगोल एक दृष्टि से भारतीय संस्कृति की देन है और प्राक-पाणिनीकालीन साहित्य से भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। विक्रम की दसवीं शताब्दि तक सिंधु के उस पार के देशो से भारतवर्ष की संस्कृति का अटूट सम्बन्ध है।

प्राचीन काल में विदेशी लोग भारतीय जनों को उपर्युक्त महानद के आधार पर "सिंधु" नाम से पुकारते थे, जिसे ईरानियों (फरासियों) ने "हिन्दु" कहा क्योंकि वे 'स' का उच्चारण 'ह' करते थे, इसीलिए उन्होंने 'सिंधु' को 'हिन्दु' कहा। "हिन्दु" शब्द के उपयोग की शुरूआत तो 549 तथा 525 ई.पू. के मध्य हुई। "अपने पुरालेख में द्वारा (डेरियस 1) ने भारत और भारतीय साहित्यों ने ग्रहण किया और जिसको "हिन्दी" और "हिन्दू" के रूप में बार-बार दोहराया गया। मध्यकालीन मुस्लिम इतिहासकारों ने इसे हिन्दुस्तान या हिन्दोस्तां नाम दिया। आगे चलकर ब्रिटिश कालीन भारत में इसे हिन्दुस्तान या हिन्दोस्तां नाम दिया। आगे चलकर ब्रिटिश कालीन भारत में इसे ब्रिटिश इतिहासकारों ने सिंधु नदी के लिए प्रयुक्त ग्रीक शब्द "इण्डस" के आधार पर इस देश को "इण्डिया" कहना व लिखना शुरू किया। किन्तु भारतवर्ष ने स्वयं "भरत" शब्द से प्रचलित परम्परा को ही अंगीकार किया। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात "भारत" शब्द ही स्वीकार कर उसे शासन-प्रणाली में अपनाया गया।"

दक्षिण भारत की ओर आर्य संस्कृति के प्रचार के फलस्वरूप विस्तृत सीमा को एकत्व भावना के क्षेत्र में समायोजित करने के लिए नवीन सिद्धान्तों की रचना की जाने लगी, समस्त भारत के आर्यकरण की व्यंजना निम्नलिखित पौराणिक प्रार्थना में सर्वोत्तम रूप से अभिव्यक्त हुई है।

"गङ्गे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वति,
नर्म्मदे सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन सनिधि कुरू:॥"

भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक दार्शनिक व राजनीतिक जीवन एवं विकास के अनेक सोपानों की पूर्ण व्याख्या संस्कृत वाङ्मय मं पढ़ने को मिलती है, प्राचीन संस्कृत भाषा में उत्वीर्ण प्रस्तरलेखों ताम्रपत्रों, मुद्राओं (सिक्को) के आधार पर ही प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति के लेखन में कुछ हद तक सफलता मिली है।

कुछ पाश्चात्य व भारतीय इतिहासकारों की यह धारणा कि प्राचीन भारतीयों में इतिहास बोध (Histrocal sense) का अभाव था, यद्यपि भारत में युनान के टाइटस लेबी जैसे इतिहासकार न हुए हों, किन्तु यह समझाना के भारतीय विद्वान इतिहास को महत्त्व नही देते थे। या उनमें ऐतिहासिक बुद्धि न थी जैसे कि इतिहासकार रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है-'प्राचीन भारतीय वाङ्मय विशद् एवं समृद्ध होते हुए भी इतिहास की घटनाओं से सर्वथा शून्य रहा है। संभव है कि इस महत्त्वपूर्ण साहित्यिक क्षेत्र की उपेक्षा का कारण ऐतिहासिक मेधा की कमी रही हो।

उक्त मत के आधार पर यह कहना असत्य होगा के भारत का अतीत ऐतिहासिक घटनाओं से शून्य था, प्राचीन भारतीय इतिहास-लेखन के पक्ष में अपने विचार रखते हुए प्रो. वार्डर (Prof. Warder) ने लिखा है-'वैदिक काल से आधुनिक काल तक भारतीय इतिहास में तारतम्यता है अभी भी प्राचीन भारत का इतिहास पाण्डुलिपियों से बिखरा पड़ा है।'

स्वयं इतिहासकार रमेश चन्द्र मजूमदार ने जिन्होंने ने पहले यह तर्क दिया था कि उन तत्वों का, जिनके कारण इतिहास को मानव-विज्ञान की प्रतिष्ठा मिली, भारत में अभाव रहा है, उन्होंने बाद में यह स्वीकार किया है कि प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन-कला से सर्वथा अपरिचित नही थे, इस सम्बन्ध में उन्होंने कल्हणकृत 'राजतरंगिणी' का उदाहरण देते हुए लिखा कि 'प्राचीन भारत में राजतरंगिणी ही एक मात्र ऐसा ग्रन्थ है जिसे सही अर्थों में एक ऐतिहासिक-ग्रन्थ के रूप में स्थान दिया जा सकता है। इस ग्रन्थ को लिखने अपितु उसमें वर्णित ऐतिहासिक तथ्यों की अशुद्धियों को भी दूर किया उसने राजाओं के अध्यादेशों और प्रशस्त्रियों का अध्ययन किया तथा तदनुरूप ऐतिहासिक तथ्यों में सुधार किया उसने यह भी बतलाया कि इतिहासकार को पूर्णाग्रहों से बचना चाहिए और निष्पक्ष ढ़ंग से ऐतिहासिक तथ्यों का निरूपण करना चाहिए। इस प्रकार उसने इतिहास-लेखन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।'

निस्सन्देह सामाजिक इतिहास तो लिखा गया किन्तु राजनीतिक इतिहास के साथ इसका सम्बन्ध जोडना कठिन प्रतीत होता है। उदाहरणस्वरूप महाभारत और पुराण से महत्त्वपूर्ण सामाजिक तथ्य मिलते है किन्तु इन तथ्यों की रचना-तिथि तथा रचयिता के विषय में सही जानकारी नही मिलती बहुत पहले पार्रिजर महोदय ने प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक परम्परा की बात उठाई थी और वेदों तथा पुराणों में इतिहास निरूपण को स्पष्ट किया था, यह भी बताया था कि पुराणों में तथ्य (Facts) और गल्प (Aictious) का सम्मिश्रण है।

भारतीयों में इतिहास-बोध का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि प्राचीन साहित्य में वैदिक ऋषियों, बौद्ध और जैन आचार्यो की सूचियाँ विद्यमान है। प्राचीन भारतीय विद्वानों ने इतिहास को "पञ्चम वेद" माना है, प्राचीन विद्याओं में इतिहास की गिनती थी राजा लोग अन्य विद्याओं के साथ इतिहास का भी अध्ययन करते थे।

छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार के साथ ब्रह्मविद्या सीखने के अपनी अथीत विद्याओं में नारदमुनि ने "इतिहास-पुराण" को "पञ्चम वेद" बतलाया है।

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद सामवेदमथवर्णम्
इतिहास पञ्चम वेदानां वेदम्"—छान्दोग्य उपनिषद् 7/1

वायुपुराण में कहा गया है कि केवल वेद और उपनिषद् में पारंगत व्यक्ति को अपने अपूर्ण ज्ञान को पुराणों के अध्ययन से पूरा करना चाहिए-इतिहास जानना चाहिए।

"इतिहास पुराणाभ्यांबोधयेत् विद्" अर्थात् इतिहास और पुराणों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें। अत: इतिहास और पुराण से वेद का उपवृंहण करना चाहिए। जैसे के महर्षि वेद व्यास ने भी इतिहास के महत्त्व को बतलाते हुए कहा कि वेद का उपबृहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिए क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है।

"इतिहास-पुराणभ्यां वेदं समुपबृंहयेत,
बिभेत्यल्पश्रुतात् वेदो मायमं प्रहरिष्यति"। —महाभारत

महाभारत में इतिहास के विषय में कहा गया है-

इतिहास-प्रदीपेन मोहांवरण धाविना,
सर्वलोक धृतं गर्भ यथावत् संप्रकाशयेत्।

आचार्य कौटिल ने ही सबसे पहले 'इतिहास वेद' की गणना अथर्ववेद के साथ की है तथा इसके अन्तर्गत पुराण इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है।

"अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः इतिहासश्रवणे,
पुराणमिति वृत्तमाख्यायिकोदाहरणं
धर्मशास्त्रमर्थशास्त्र चेतीतिहास"। —कौटलीय इतिहास

भारतीय वाङ्मय में अनेक शब्दों का प्रचलन था जिनके अर्थो को जोड़कर इतिहास का आधुनिक अर्थ बन जाता है पुराण से अतीत का, इतिवृत्त से घटनाओं का आख्यायिका से इहलोक और परलोक के आरख्यानों का बोध होता है। कौटलीय अर्थशास्त्र और महाभारत में इतिहास जैसे ग्रन्थों के तत्व मिलते हैं।

चार प्रकार के ऐतिहासिक साहित्य प्राचीन संस्कृति साहित्य में उपलब्ध है जिसमें पौराणिक (पुराण कथाएं) प्रलेख जीवन-चरित्र और इतिवृत्त है।

कवि राजशेश्वर ने अपनी कृति काव्यमीमांसा में इतिहास को दो प्रकार का बतलाया था-1. परिक्रिया, 2. पुरकल्प।

परिक्रिया से अभिप्राय उस इतिहास-ग्रन्थ का सूचक है जैसे महाभारत राजशेश्वर के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ इतिहास के अन्तर्गत आते है। उसका कथन है।

परिक्रिया पुराकल्पः इतिहास-गतिर्द्विधा
स्यादेक-नायका पूर्वा, द्वितीया बहुनायका।।–काव्यमीमांसा, अध्याय-2

ब्राह्मण ग्रन्थों में विशेष कर शतपथ ब्राह्मण में ही सर्वप्रथम वैदिक आचार्यों व उनके शिष्यों की सूचियाँ मिलती है। इन्हें "वंश" कहा गया है। इनमें प्रारंभ में कुछ देवताओं के नाम है किन्तु बाद में मनुष्यों का भी उल्लेख है। "गोत्र" वैश-परम्परा पर आधारित थे और "प्रवर" का अर्थ लब्ध-प्रतिष्ठित पूर्वज, गोत्रों और प्रवरों का सम्बन्ध सामाजिक व्यवस्था से था।

वैदिक साहित्य में गाथाओं और नाराशांसयों का भी उल्लेख मिलता है गाथाओं का अर्थ गीत है। ये यज्ञों के समय गाई जाती थी, इन गाथाओं में ऐतिहासिक पुरुषों व घटनाओं का उल्लेख किया जाता था। नराशंसी का अर्थ वीर गाथाओं के गीत! इनका भी यज्ञों के समय पाठ किया जाता था। गाथाओं और नाराशंसियों दोनों का ही भारतीय ऐतिहासिक साहित्य के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

वैदिक संस्कृत साहित्य में सबसे प्राचीन ऋग्वेद है, जिसमें प्राचीन आर्यों के धार्मिक जीवन के साथ-साथ उनके सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक जीवन की भी जानकारी मिलती है। उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद के दो सूक्तों में राजा सुदास के विरुद्ध दस राजाओं के संगठन का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद के तीसरे मण्डल में सूर्य देव को समार्पित 'गायत्री मंत्र' है चातुष्यवर्ण्य समाज से सम्बन्धित स्रोत दसवें मण्डल में वर्णित पुरुषसूक्त है।

यजुर्वेद में सस्वर पाठ/स्तुति के लिए मंत्र है। सामवेद संगीत का प्रमुख ग्रन्थ है। अथर्ववेद में रोग-निवारण औषधि, तंत्र-मंत्र, आशीर्वाद, प्रेम व विवाह आदि से सम्बन्धित मंत्र है ब्रह्मण व आरण्यक से आर्यों के धार्मिक विश्वासों का पता चलता है। ऐतरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण व पंचविश ब्राह्मण ग्रन्थों से महाभारत-युद्ध के पीछे की कुछ घटनाओं की जानकारी मिलती है।

वैदिक काल के अंत में वेदों को भली-भांति समझने के लिए वेदाङ्ग की रचना हुई। वेदाङ्ग छः है-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छन्द और ज्योतिष।

वैदिक स्वरों का शुद्ध उच्चारण करने के लिए "शिक्षा" नामक अंग का सृजन हुआ। ऐसे सूत्र जिनमें विधि और नियमों का प्रतिपादन किया गया है। "कल्प सूत्र" कहलाते है।

कल्पों के तीन भाग है श्रौत सूत्र, गृह सूत्र और धर्म सूत्र, श्रौत सूत्र में यज्ञ संबंधी नियमों का उल्लेख गृह सूत्रों में मनुष्यों के लौकिक व पारलौकिक कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। धर्मसूत्रों में धार्मिक, सामाजिक व राजनीतिक कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है।

व्याकरण ग्रन्थों में सबसे महत्त्वपूर्ण "अष्टाध्यायी" है जिसमें ऐतिहासिक मूल्यवान तथ्य खोज निकाले है यास्क ने निरूक्त की रचना की, इससे वैदिक छन्दों की व्युत्पत्ति बतलायी गई है। छन्दशास्त्र में वैदिक छन्दों का और ज्योतिष शास्त्र में नक्षत्रों का विवेचना मिलता है।

सूत्र साहित्य के बाद स्मृतियों की रचना हुई इनमें मनुस्मृति (200 ई.पु. से 200 ई. तक), गुप्तकाल में याज्ञवल्क्य, नारद, पराशर और बृहस्पति स्मृति की रचना हुई। इनसे तत्कालीन सामाजिक व धार्मिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

वैदिक धर्म अंधविश्वास से रहित बुद्धिवाद पर आधारित था, जैसा कि यास्क ने लिखा है ऋषियों की परम्परा समाप्त होने पर जब मनुष्यों ने ब्रह्म के पास जाकर उनसे ऋषि मांगें तो उन्होंने बुद्धि रूपी ऋषि दिया। अत: बुद्धिवाद द्वारा वेद को समझाना आवश्यक है।

उपनिषदों को वेद रूपी समुद्र में मथा हुआ 'अमृत' कहा जाता हैं। इनमें वैदिक चिन्तन का सार संग्रहीत है, ये भारतीय मनीषा की कुंजी हैं। उपनिषदों को "वेदान्त" भी कहते है क्योंकि ये वेदों के अन्त में है। उपनिषद् एक उदात्त और कर्मठ जीवन-पद्धति के प्रतिपादक है, उनमें ओजस्वी, तेजस्वी और वर्चस्वी जीवन की प्रेरणा है।

जिस समय उपनिषदों का विकास हो रहा था उसी काल में आख्यानों, पुराणों, कथानकों, लोकगीतों द्वारा लोगों के विश्वास और मान्यताओं का निरवार हो रहा था। कालक्रम से लोकमानस की ये व्यंजनाएं प्राचीन काव्यों में समाहित हो गई। जिनमें रामायण व महाभारत प्रमुख है।

संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत पुराणों का इतिहास-लेखन में पर्याप्त उपयोग हुआ है। पुराणों की परम्परा काफी प्राचीन है। पुराणों की रचना वैदिक साहित्य के पश्चात हुई। पुराणों का सम्बन्ध वेदों की ऐतिहासिक व्याख्या से है जैसे कि कहा गया है "इतिहास और पुराण से वेद का उपबृंहण करना चाहिए। अश्वमेध-यज्ञ में जो पारिपल्व-आरख्यान सुनाए जाते थे। उन्होंने पुराणों का रूप धारण किया। अत: प्रसिद्ध है कि यज्ञ से पुराण का जन्म हुआ। प्रारम्भ में पुराणों के पाँच विषय (लक्षण) थे सर्ग (सृष्टि की कथा) प्रतिसर्ग (प्रलय के बाद सृष्टि का पुनर्भाव), वंश (देवताओं, राक्षसों, ऋषियों और राजाओं के वृतान्त), मन्वन्तर (युग चक्रो का आवर्तन) और वंशानुचरित (राजाओं का वर्णन)"।

"सर्गश्च, प्रतिसर्गश्च, वंशोमन्वन्तराणच।
वंशानुचरितम् चैव पुराणश्च पंचलक्षणम्।।"

अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। सृष्टि का पतन व पुन: उत्पत्ति सृष्टि के विविध मन्वन्तर अर्थात् विभाग कौन से है इन मन्वन्तरों में किन शासकों और उनका वंश क्या था इन सब बातों की जानकारी पुराणों से मिलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से मत्स्य, वायु, गरुड, विष्णु, भागवत व भविष्यत् पुराण विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। परम्परागत इतिहास का वर्णन पुराणों और ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलता है। पुराणों में मनु की वंशावली का वर्णन महाकाव्य काल के राजाओं तक किया गया है। ये ही राजा रामायण व महाभारत के नामक थे और उसके पश्चात् ऐतिहासिक काल के राजवंशो का चित्रण है।

पुराणों में भारत के प्राचीन राजवंशों कु वंशावली दी हुई है। इनमें शिशुनाग वंश, नन्द वंश, मौर्यवंश, शुङ्ग वंश, आंध्र-सातवाहन वंश, व गुप्त वंश का परिचय मिलता है।

इनमें तथ्य (Facts) की अपेक्षा गल्प (Factious) अधिक हैं। जैसा कि आर.के. मजुमदार ने लिखा है कि पुराण-मिथक और गाथाओं तथा मानक्तेप घटनाओं और इतिहास में उचित भेद नहीं करता।

महाकाव्य में रामायण व महाभारत महत्त्वपूर्ण हैं। रामायण को "आदि काव्य" और महाभारत को "इतिहास" माना गया है। महाभारत के शांतिपर्व को इतिहास माना गया है।

रामायण महर्षि वाल्मीकि कृत पहला काव्य है। उस काव्य का प्रधान लक्ष्य चरित्र का वह आदर्श प्रस्तुत करना है। जिससे मनुष्य देवत्व पर पहुँचता है। इसके अनुसार चरित्र ही धर्म है और इसका कारण चरित्रवान् राम धर्म के मूर्तरुप हैं। (रामो विग्रहवान् धर्मः) रामायण, अरण्यकाण्ड, 38/13

रामायण की भांति महाभारत भी लोक धर्म का अमूल्य-ग्रन्थ है। महाभारत का कथानक भारतवंश के इतिवृत्त और उनके वंशज कौरव-पाण्डवों के युद्ध से बना है। इसमें आख्यानों-उपाख्यानों, धर्म, दर्शन की चर्चाऐ नीति-सम्बन्धी प्रवचनों का ताना-बाना बुना गया है।

महाभारत में शील और सदाचार को ही सामाजिक व्यवस्था का मूल अंग माना गया है। इसके अनुसार समाज के चार वर्गों का विभाजन गुण और कर्म पर आधारित है। जन्म और जाति से सब मनुष्य समान है।

महाभारत के आदि पर्व में लिखा है कि ऐसी प्राचीन कथा जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की शिक्षा मिलती हो इतिहास कहलाता है। इतिहास की उपर्युक्त परिभाषा से प्राचीन भारतीयों के इतिहास-लेखन के उद्देश्यों पर प्रकाश पड़ता है। महाभारत उस कर्म, नियम और आचार को धर्म मानता है जिससे लोक समन्वय बना रहे और व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के पूरक बनकर उन्नति की ओर बढ़ते रहें। (उद्योगपूर्व, 137.9)।

इसका केन्द्र बिन्दु मनुष्य है। अतः महाभारत स्पष्ट शब्दों में घोषणा करता है कि सबसे गहरा रहस्य यह कि मनुष्य से अधिक श्रेष्ठ और कुछ नहीं है (न हिमानुषाच्छ्रष्ठेत्तर हि किंचित्-शांतिपर्व, 180, 12)। यह मानववाह का महामंत्र अनेक प्रकार के जाति, दल, देश, क्षेत्र और सम्प्रदाय के भेदों को दूर कर सब मनुष्यों को धर्म और संस्कृति के समान धरातल पर ले आता है।

रामायण और महाभारत के सम्बन्ध में डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है कि निःसन्देह इन प्रबन्धकाव्यों में भारत की तत्कालुन धार्मिक एवं सामाजिक स्थितियों का रुचिकर संग्रह हुआ है परन्तु राजनीतिक घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास के रुप में ये नितान्त असंतोषजनक है।

प्राचीन भारत के राजाओं के दरबार में सुत (Sutas) होती थी। जो कि अपने संरक्षकों का सरकारी रिकार्ड रखते थे भृगु, अंगिरा, कश्यप आदि प्रमुख सुतों ने प्राचीन

इतिहास लेखन में बड़ा योगदान दिया है। उपाख्यानों पर आधारित इतिहास की रचना हुई। प्रो. नीलकण्ठ शास्त्री के शब्दों में प्राचीन साहित्य सृष्टि की रचना से आरंभ होता है तथा देवी-देवताओं और उनके अवतारो के उपाख्यान और नीतिकला से गुजरता है जो कि लोकप्रिय ऐतिहासिक रचना "वंश" ही थे सूतों और भार्गव वंश विद्वानों ने इस प्रकार के ग्रन्थों का स्पष्ट रूप निर्धारित कर दिया था। परन्तु चौथी शताब्दी के पश्चात् "वंश" लिखने की परम्परा समाप्त हो गई।

मगध राज्य की स्थापना से पूर्व भारत में अनेक महाजनपद व गणतंत्र राज्य अस्तित्व में थे जो आपसी संघर्ष में व्यस्त थी कोई सुदृढ सत्ता नही थी देश की एकता को सूत्र में आबद्ध कर सके ऐसी स्थिति में चाणक्य ने चन्द्रगुप्त को शस्त्र धारण कराकर एक चक्रवर्ती राज्य का उद्धार किया चाणक्य के क्रुद्ध होने पर ही नन्दवंश का विनाश हुआ और उसके पश्चात् शासन को सुदृढ़ बनाने तथा विधिपूर्वक शासन चलाने के लिए उन्होंने "अर्थशास्त्र की रचना की थी। यह ग्रन्थ नरेन्द्र (चाणक्य) के लिए लिखा गया जैसा कि अर्थशास्त्र में वर्णित है।"

"सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोग समुपलभ्यच
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिकतः।"

अर्थशास्त्र की समाप्ति में स्वयमेव विष्णुगुप्त और प्रारंभ में कौटल्येन लिखा गया है इससे स्पष्ट होता है कि विष्णुगुप्त का दूसरा नाम कौटिल्य था और उन्होंने नरेन्द्र (चन्द्रगुप्त) के लिए शासन-विधान के रुप में "अर्थशास्त्र" की रचना की कौटिल्य में अर्थशास्त्र में राजनीतिक शासन प्रणाली सैन्य-व्यवस्था, गुप्तचर-व्यवस्था, राजनय व विदेश-नीति, कृषि, उद्योग, व्यापार, कर प्रणाली, राजस्व-व्यवस्था आदि रखकर ही कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की जो हर समय, हर युग के लिए उपादेय है। कौटिल्यशासन-पद्धति का मुख्य उद्देश्य था।

"प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानान्तुप्रियं हितम्॥"

विशावदत्तकृत "मुद्राराक्षस" से भी मौर्यवंश के सुंस्थापक चन्द्रगुप्त के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश पड़ता है यद्यपि मुद्राराक्षस मौर्यवंश की स्थापना के सात सौ वर्ष पश्चात् की रचना है तथापि इसका कथानक ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है जो चाणक्य में नंदवंश का विनाश करके चन्द्रगुप्त को किस प्रकार पाटलिपुत्र के सिंहासन पर आरुढ किया और नंदवंश के पुराने अमात्य राक्षस को किस प्रकार से चाणक्य और चन्द्रगुप्त की योजनाओं को विफल करने का प्रयास किया। मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्डिराज ने नाटक के कथानक की भूमिका में मगध के नंदवंश की सत्ता व उसके उन्मुलन का उल्लेख किया है।

अतः यह धारणा कि प्राचीन भारतीयों में इतिहास बोध न था सर्वथा असंभवता है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतिहास-लेखन की परम्परा के दर्शन होते है। और इसका सबसे

उपयुक्त उदाहरण कल्हण कृत "राजतंरगिणी" नामक ऐतिहासिक रचना है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है। कि प्राचीन भारती ने समय-समय पर रची गई अनेक संस्कृत कृतियों में कुछ प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित विविध विषयों पर प्रकाश डालती है जिससे प्राचीन भारतीय इतिहास का संस्कृत के साथ अन्तः सम्बन्ध परिलक्षित होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. श्रीमद्भागवत्, स्कन्द 5, अध्याय 4, श्लोक 9
2. शब्दकल्पद्रुम, तृतीय काण्ड, पृ. 501
3. मत्स्यपुराण, अध्याय 114, पृ. 86
4. विष्णुपुराण, अंश 2, अध्याय 3, श्लोक 1
5. उपाध्याय, भगवतशरण भारतीय संस्कृति के स्त्रोत, पी.पी.एच. नई दिल्ली, 1991
6. Tripathi, R.S., 'History of Ancient India', p.1
7. Warder, A.K., An Introduction to Indian Historigraphy, p.7
8. Majumdar, R.C., Ancient India, p.5
9. Pastizer, Ancient Indian Historical traditon
10. छान्दोग्य उपनिषद्, 7/1
11. काव्यमीमांसा, अध्याय 2
12. Majumdar, A.K., Historiography, p.295
13. रामायण, अरण्यकाण्ड, 38/13
14. महाभारत, उद्योग पर्व, 137.9
15. महाभारत, शांतिपर्व, 180.12
16. Tripathi, R.S., History of Ancient Indian, p.2
17. Pathak, V.S., Ancient Historians of Indian, p.138
18. Shastri, Nilkantha, K.A., Historical method, p.6
19. कौटलीय अर्थशास्त्र, अधि. 2, अध्याय 11, सूत्र 65
20. तदैव 1/19

पूर्व-प्राध्यापक (इतिहास), डिग्री कॉलेज,
देवप्रयाग/हे.न.ब. गढवाल विश्वविद्यालय, उत्तराखण्ड

✦✦✦

रघुवीर शरण मित्र के साहित्य में नारी चेतना के विविध आयाम

–डॉ. सुनीता राणा

वैदिक काल में नारी का सम्मान पूर्ण स्थान रहा है। वेद रचना, वेदाध्ययन यज्ञ आदि से वह बराबरी का अधिकार रखती थी। कालांतर में समाज में परिवर्तन हुआ। एक और जहां गृहस्थ जीवन में उसका पूर्ण सम्मान था वहीं दूसरी ओर वह भोग की वस्तु बनी। उसके समस्त अधिकारों को छीन कर उसका जीवन नर्क बना दिया गया। बाल विवाह, बेमेल विवाह, पर्दा प्रथा, बहुविवाह से उसका जीवन सोचनीय बना। स्वतंत्रता संघर्ष के साथ-साथ नारी मुक्ति के आंदोलन भी प्रारंभ हुए। सती प्रथा, देवदासी प्रथा अन्य रूढ़ियों का विरोध होने लगा। उसी के फलस्वरूप स्वतंत्रता संषर्घ में नारी ने पुरुषों के कंधे से कंधा मिलाकर अपना योगदान दिया।

भारतीय नारी जागरण के इतिहास में गाँधी युग स्वर्ण युग है उन्होंने नारी के मूल में छिपी महती मातृ शक्ति के दर्शन किए। उन्होंने महसूस किया कि नारी त्याग की प्रतिमा है उसके स्वभाव में ही दान है, प्रेम है, अहिंसा है। गाँधी जी ने भारतीय नारी के अंदर छिपी त्याग प्रवृत्ति और दान परंपरा को घर की चारदीवारी से बाहर निकाला और समाज व देश के व्यापक हितों में उसका उसका प्रयोग किया। आधुनिक भारतीय इतिहास में गाँधीजी पहले व्यक्ति हुए जिन्होंने बड़ी निर्भीकता और साहस से समाज के सामने यह बात रखी कि शताब्दियों से शोषित और उत्पीड़ित नारी अब पुरुषों के अनैतिक प्रभुत्व को किसी प्रकार स्वीकार नहीं करेगी। गाँधी जी का यह दृढ़ मत था कि "समाज के आधे भाग की उपेक्षा कर हम किसी भी प्रकार की सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक प्रगति नहीं कर सकते हैं"[1]। गाँधीजी स्त्रियों को त्याग की मूर्ति मानते थे वह कहते हैं "स्त्री ....त्याग की साक्षात मूर्ति है जब कोई स्त्री किसी काम में जी-जान से लग जाती है तो वह पहाड़ को भी हिला देती है"[2]। स्त्रियों के विषय में गाँधी जी की अवधारणा पद्मश्री रघुवीर शरण मित्र के साहित्य में भी प्रतिबिंबित होती है। मित्र जी नव युग चेतना के कवि हैं वह शताब्दियों से पिछड़ी और प्रताड़ित नारी को आधुनिक युग की सीमा में प्रवेश करने की जो समानता और स्वतंत्रता के अधिकार मिले हैं। उन नारी जागरण के सभी संदर्भा को उन्होंने प्रस्तुत किया है।

गाँधीजी ने भारतीय नारी के प्राचीन आदर्श की प्रतिष्ठा की है वह उसे निष्ठा, त्याग और सेवा की मूर्ति मानते हैं। रघुवीर शरण मित्र जी ने कमला नेहरू के गुणों का वर्णन करते

हुए उनकी त्याग भावना को 'जननायक महाकाव्य' में प्रकट किया है–

"वीर जवाहर लाल नेहरू जिनकी निर्मल पत्नी कमला
देश भक्ति की गौरव गीता, सीता सावित्री सी अमला,
जिसने अपने प्यारे पति को, स्वतंत्रता के लिए सजाया
रुग्ण तड़पती रही बेचारी, किन्तु ना उनको रोक बिठाया
करुण कल्पना सी कोमल ध्वनि, करवट पर सांसे चलती थी
धीरे-धीरे गर्वित गति से प्राणों की किरणें ढलती थी।"[3]

भूमिजा में कवि ने नारी के तप और त्याग को विशेष महत्व दिया है। नारी को हमेशा सुख व आराम छोड़ना पड़ता है।

कवि की दृष्टि में–

"कोई मिट्टी में मिलता है, राज्य किसी ने भोगा
नयी किरण ने कहा धरा से, अब परिवर्तन होगा।
अमर चेतना सृजन दीप ले अन्धकार में जागी
भाग्य बदलने को सूरज जी अग्नि चली हतभागी॥"[4]

रघुवीर शरण मित्र नारी को कर्म शक्ति का प्रतीक मानते हैं। वह कहते हैं नारी भले ही अकेली हो किन्तु वह अपने कर्म शक्ति से सारे संसार को सुंदर और कलात्मक रूप प्रदान कर सकती है। वास्तव में नारी कर्म की प्रेरणा है जीवन का आधार है और व्यवस्था तथा कला का सुंदर उदाहरण है। इसी कारण रघुवीर शरण मिश्र ने भूमिजा में लिखा है–

"नारी के उत्थान सूर्य से मान लिया अंबर को।
कर्म ज्योति बाँटी सीता ने गांव गांव के घर घर को।
श्वासों का उद्देश्य कर्म है थक कर क्यों मर जाएं।
मरने से पहले वह कर लें याद सभी को आयें।"[5]

भारतीय संस्कृति में मान्यता है कि पत्नी अर्धांगिनी होती है और पति की प्रबल सहारा होती है। इसी भाव को आधार लेखक मित्र जी 'जननायक महाकाव्य' में गाँधी और कस्तूरबा के संबंधों का सुंदर वर्णन किया है।

"वे थे त्याग, तपस्या थी वह, युगधारा वे, वह थी रचना,
वे थे चांद, चांदनी थी वह, वे राम और वह रटना
बापू भाव और वह भाषा, वे साहित्य और वह शैली
अपने जीवन के झरनों से धोते थे वह दुनिया मैली।"[6]

रघुवीर शरण मित्र ने नारी के उदात्त मूल्यों को जैसे श्रद्धा, प्रेम, पवित्रता, अर्धांगिनी, शक्ति स्वरूपा आदि को बड़े सशक्त ढंग से उभारने का प्रयास किया है। उन्होंने जननायक में कस्तूरबा के गुणों का सजीव वर्णन किया है।

"जननायक की उस पगध्वनि ने प्यारे पति की गति पहचानी
नारी का अभिमान बन गई बा माता की अमर कहानी।
पति सेवा में, राष्ट्रभक्ति में जननी का बलिदान अमर है,
उस राष्ट्रमाता के तप से नारी का अभिमान अमर है।"[7]

जब गाँधीजी अफ्रीका जाने लगे तो कस्तूरबा उनके वियोग के दु:ख के कारण रोने लगी। गाँधीजी कस्तूरबा को समझाते हैं कि तुम्हारे प्यार के कारण मैं गलत मार्ग पर जाने से बच जाता हूँ। तुम मेरी प्रेरणा हो। कस्तूरबा भी अपने को पति की सेविका मानती हैं। इस घटना का वर्णन मित्र जी ने बड़ी सहजता से किया है-

"पति ने पत्नी को समझाया शुभे! हृदये में हो तुम मेरे
बुरे मार्ग से बच जाता हूँ देवी, अमर प्यार से तेरे
पत्नी ने यह कहा प्यार से, उन्नति पथ में साथ हूँ
तुम ईश्वर हो मैं श्रद्धा हूँ चरणों की सेविका नाथ हूँ।"[8]

रघुवीर शरण मित्र जी की गाँधीवाद में पूर्ण आस्था थी। गाँधी जी की भांति मित्र जी ने भी नारी को सृष्टि का आधार मानते हैं। नारी में जीवन की सभी गतिविधियाँ समाई हुई हैं-

"यह संस्कृति की मूलाकृति है यही पूर्ति प्राणों की
यही कीर्ति मानव महान की यही मूर्ति प्राणों की
यही अमृत की धार इसमें सुख की सारी निधियाँ
इससे श्वासों में अंकित है संसृति की गतिविधियाँ।"[9]

नारी के महत्व को उजागर करते हुए मित्र जी कहते हैं-

"नारी जीवन की कुंजी है नारी रस की निधि है।"[10]

नारी जननी है और ममता की मूर्ति है नारी के शाश्वत गुणों की महिमा को बताते हुए मित्र जी कहते हैं-

"पालन करती रस छलकाती, कहीं बुद्धि है कहीं भक्ति है
नारी ही पैरों की बेड़ी, नारी ही तो महाशक्ति है।
करुणा की साकार मूर्ति है, नफरत की तलवार दुधारी
कभी कहीं घर की उजियाली, कभी कहीं रोशनी उधारी।"[11]

नारी अनेकों कष्टों को सहते हुए भी दूसरे के जीवन को आनन्दित करने वाली होती है सहनशील और शक्ति स्वरूपा नारी का वर्णन रघुवीर शरण मित्र ने मानवेंद्र महाकाव्य में बड़ी सजीवता से कहा है-

"सहते-सहते धरा बन गई, जलती जलती बनी उजाली
पुरुष शक्ति को खेल न समझो, मत समझो गेंद उछाली

हँसती है तो फूल खिलाती, रोती है तो प्रलय मचाती
घर की देवी, पथ की साथिन, राह रोकती राह दिखाती
नारी अमिट विरह की पीड़ा, कविता नई नवेली भी है।"[12]

रघुवीर शरण मित्र जी ने साहित्य में नारी स्वाभिमान से जीना चाहती है परन्तु पुरुष उसके स्वाभिमान को आहत करने का प्रयत्न करता रहता है। भूमिजा में सीता की पीड़ा और निराशा के बावजूद भी स्वाभिमान से जीना चाहती है।

"भावुकता ने जब सीता के नोच दिये पर सारे
तब उसकी आंखों से निकले जल भीगे अंगारे
देह कांपने लगी आंधियां मानो देह धरे हों
शून्य सिसकने लगा कि जैसे सूखे घाव हरे हों।"[13]

दूसरों के कहने पर जब राम जी ने सीता को छोड़ा। सीता राम के व्यवहार से आश्चर्यचकित है वह चाती है कि उसके पति उसे सम्मान दे, प्रेम देते रहें। जिसकी वह हकदार है। पति को परमेश्वर मानती हुई नारी हमेशा पुरुषों की अधीनता स्वीकार करती रहती है। भूमिजा में रघुवीर शरण मित्र ने कहा है–

"खोए शिशु सी खोज रही है पूजा परमेश्वर को
हाय! निराश्रित खोज रही है नारी शाश्वत नर को।"[14]

उक्त पंक्तियाँ नारी के अबला स्वरूप को प्रकट करती हैं। नारी अपना आश्रय पुरुष में ढूंढती है परन्तु विपरीत परिस्थितियों में वह सबला और क्रांतिमय होने का प्रयत्न करती है सीता जी ने यही किया है–

"मचल उठी यदि सीता तो फिर लंका जल जायेगी
नयी क्रांति से महल महल की मिट्टी गल जायेगी
मौन क्रांति सी सीता वन में किरणों पर ढलती है
स्वतंत्रता की शुभ घडियों में बत्ती सी जलती है।"[15]

रघुवीर शरण मित्र के साहित्य में नारी एक और सुंदरता की प्रतिमूर्ति है तो दूसरी तरफ विनाश की शक्ति स्वरूपा देवी है। मित्र जी ने वीरायन में कहा है–

"सीता का आंसू गिरता है, सोने की लंका जलती है।
नारी जीवन देने वाली, नारी जीवन को छलती है॥

नारी विभीषिका की बत्ती, नारी कलिका नारी काली।
नारी सागर में दावानल, नारी जीवन की उजियाली॥"[16]

माता के रूप में रघुवीर शरण मित्र ने नारी का यथार्थ चित्रण किया है। मां की ममता का कोई मूल्य नहीं है। जब भगवान महावीर गृहस्थ को छोड़कर जंगल में जाने लगते हैं। तब मां के गुणों को उजागार करते हुए आशीर्वाद लेते हैं–

"तुम क्षमा मूर्ति मेरी माता! तुम दया मूर्ति मेरी माता
तुम बोधमयी, तुम क्रोध रहित, तुम धर्म मूर्ति तुम हो दाता
तुम व्यष्टि नहीं तुम हो सृष्टि, इसलिए मुझे वरदान मिले
तेरा सुत उपवन, उपवन में हो, उपवन उपवन में फूल खिले।"[17]

नारी हृदय से बहुत कोमल होती है पर कर्मो से उतनी ही कठोर। समय आने पर यह अपनी कर्मठता एवं वीरता का परिचय देती रही है। रघुवीर शरण मित्र जी ने अपने साहित्य में उस नारी की शक्ति का वर्णन किया गया है। जब रानी शची युद्ध भूमि में जाती है और शत्रुओं को ललकारती हैं। इसका सुंदर वर्णन मित्र जी ने विजयवरण काव्य में किया है–

"हम जया धर्म की ज्वालाएं हम हार न रण में मानेंगी

* * * * * * * * * *

यह मत समझो हम अबला हैं, सबला हैं हमसे युद्धकरो।
अच्छा है बचो पराजय से, सब अपना अंतर शुद्ध करो।।

सब असुर ठहाका मार हँसे,
तलवारों में तरुणियाँ देखे।
इतिहास शक्ति की जय बोले,
अंगारों में अरुणियाँ देख।।"[18]

'आग और पानी उपन्यास' में मित्र जी कहते हैं कि नारी जितनी कोमल है उतनी कठोर भी है। "सत्य है कि नारी फणि भी है और मणि भी। रुप में सुगंध भी है और बुद्धि पर प्रहार करने वाली काट भी"।[19]

महाकाव्य मानवेंद्र की इन पंक्तियों में मित्र जी ने नारी के विषय में संसार में प्रचलित धारणा का उल्लेख करते हुए अपने मत का दृढ़ता से प्रतिपादन करते हैं–

"कहते हैं नारी बंधन है, ऋषियों की भाषा में।
मैंने कहा ज्योति है नारी, सतियों की भाषा में।
कहते नारी द्वार नरक का है, संतो की कविता में।
मैंने कहा सृष्टि है नारी, कन्तों की कविता में।
कहते हैं नारी माया है, अंधा कर देती है।
मैंने कहा कि नारी, पथ में दीपक धर देती है।
कहते हैं नारी बंधन है, मुक्ति मार्ग में बाधा।
मैंने कहा न नारी हो तो, नर का जीवन आधा है।"[20]

रघुवीर शरण मित्र नारी जागृति को आवश्यक मानते हैं। भूमिजा में कवि ने सीता के माध्यम से नारी विषयक विचारों को प्रकट किया है। कवि की दृष्टि छायावादी है। अत:

वह नारी को देवी की दृष्टि से देखते हैं। सीता को उन्होंने देवी के भाव से देखा और उन्हें शक्ति व कर्म का प्रतीक बतलाते हुए सभी नारी को वैसे ही नारी बनने की प्रेरणा दी है।

युगों युगों से प्रताड़ित नारी के प्रति मित्र जी के साहित्य में श्रद्धा का भाव दृष्टिगोचर है वे स्त्री जाति के उद्धार के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। मित्र जी के साहित्य में नारी कहाँ प्रणय, श्रद्धा, सरलता और कोमलता से आपूरित है, वहीं शक्ति और तेज का पुंज भी है। नारी सच्ची देशभक्त भी है। अपने सौंदर्य से, तन से, मन से, धन से वह देश के हितार्थ समर्पित हो सकती है। 'प्यास और शोले' उपन्यास में पात्र ललिता अपने देश भक्त को इन शब्दों में उभारती है–"देश के लिए मैं शूली पर चढ़ने को भी तैयार हूँ .....मैं तैयार हूँ अपने देश के लिए अपना चरित्र देने को। अपने शरीर की बोटी बोटी कटवाने को तैयार हूँ।"[21]

नारी की अजेय शक्ति 'सदा सदा के प्रश्न' तथा 'सोने की राख' उपन्यास में बड़े सुंदर ढंग से व्यक्त हुई है। देशभक्ति के साथ ही मित्र जी नारी पात्र त्याग और ममता की प्रतिमूर्ति भी हैं। 'काई और कलम' उपन्यास में नारी शर्मिष्ठा प्रिय ययाति के लिए अपना सर्वस्व त्याग देती है। मित्र जी के उपन्यासों में नारी को जासूस और श्रेष्ठ पुलिस अधिकारी के रुप में भी चित्रित किया गया है।

नारी के इन उदात्त मानवीय मूल्यों के कारण ही मित्र जी के साहित्य में नारी पात्र प्रधान रहीं।

सन्दर्भ–

1. संपूर्ण गाँधी वांग्यम भाग–6, पृ. 299, 300
2. हिन्दी नवजीवन पत्र 25–12–1921
3. रघुवीर शरण मित्र 'जननायक' अंतर्द्वंद सर्ग, पृ. 303
4. रघुवीर शरण मित्र 'भूमिजा' हाथ बढे फल खिले, पृ. 40
5. रघुवीर शरण मित्र 'भूमिजा' पुष्पाँजलि, पृ. 56–57
6. रघुवीर शरण मित्र 'जननायक' आंदोलन सर्ग, पृ. 343
7. रघुवीर शरण मित्र 'जननायक' आहुति सर्ग, पृ. 281
8. रघुवीर शरण मित्र 'जननायक' अफ्रीका गमन सर्ग, पृ. 82
9. रघुवीर शरण मित्र 'मानवेंद्र' सिंदूर सौरभ सर्ग, पृ. 94
10. रघुवीर शरण मित्र 'मानवेंद्र' सिंदूर सौरभ सर्ग, पृ. 90
11. रघुवीर शरण मित्र 'मानवेंद्र' सिन्दूर सौरभ सर्ग, पृ. 95
12. रघुवीर शरण मित्र 'मानवेंद्र' सिंदूर सौरभ सर्ग, पृ. 96
13. रघुवीर शरण मित्र 'भूमिजा' अरण्यरोदन सर्ग, पृ. 22
14. रघुवीर शरण मित्र 'भूमिजा' अरण्यरोदन सर्ग, पृ. 11

15. रघुवीर शरण मित्र 'भूमिजा' अरण्यरोदन सर्ग, पृ. 1314
16. रघुवीर शरण मित्र 'वीरायन' प्यास और अंधेरा सर्ग, पृ. 187
17. रघुवीर शरण मित्र 'वीरायन' विरक्ति सर्ग, पृ. 233
18. रघुवीर शरण मित्र 'विजयवरण' पराभव सर्ग, पृ. 68
19. रघुवीर शरण मित्र 'आग और पानी' उपन्यास, पृ. 79
20. रघुवीर शरण मित्र 'मानवेंद्र सिंदूर सौरभ' सर्ग, पृ. 96
21. रघुवीर शरण मित्र 'प्यास और शोले' पृ. 12–13

प्रवक्ता–हिंदी, राजकीय इंटर कॉलेज, कैंपटी, टिहरी गढ़वाल

✦✦✦

प्रसाद के नाटक : एक विहंगम दृष्टि

–डॉ. अनीता देवी

प्रसाद ने 1910 से लेकर 1933 तक बहुत कम अंतराल पर एक के बाद एक कुल मिलाकर 14 नाटक लिखे। सज्जन–1910–1911, कल्याणी–परिणय–1912, करूणालय–1912, प्रायश्चित–1914, राज्यश्री–1915, विशाख–1921, अजातशत्रु–1922, कामना–1923–24, जन्मेजय का नागयज्ञ–1926, स्कन्दगुप्त–1928, एक घूँट–1930 (एकांकी), चंद्रगुप्त–1931, ध्रुवस्वामिनी–1933, अग्निमित्र। सभी नाटक अपने आप में एक नवीन प्रयोग हैं। इनमें कुछ नाटकों की कथावस्तु ऐतिहासिक है तो कुछ की काल्पनिक और कुछ ऐतिहासिक और काल्पनिक का मिला–जुला रूप है। ऐतिहासिक नाटकों के कुछ पात्रों की रचना इस प्रकार की गई है कि वे इतिहास के न होकर भी ऐतिहासिक लगते हैं। जैसे–राज्यश्री में विकटघोष और सुरमा, जन्मेजय का नाग–यज्ञ में दामिनी, शीला, माणवक, स्कन्दगुप्त में देवसेना और विजया, चंद्रगुप्त में अलका और सिंहरण, ध्रुवस्वामिनी में कोमा और मिहिरदेव आदि। प्रसाद में अद्भूत प्रतिभा थी। उनकी सांस्कृतिक चेतना उन्हें न केवल दूसरे साहित्यकारों से अलग करती है बल्कि ऊँचा स्थान भी प्रदान करती है। वे भारतीय संस्कृति के पक्षपाती तो थे, लेकिन वे रूढ़ियों के पक्षपाती नहीं थे। इसलिए सांस्कृतिक बोध के प्रति उन्होंने पुर्नरुत्थानवादी दृष्टि अपनायी और उसको अपनी रचना का केंद्रीय भाव बनाया। क्योंकि यह सांस्कृतिक बोध रचना का भाव बनकर संपूर्ण रचना–तंत्र को स्फूर्ति और आलोक देता है तथा सतत् प्रवाहमान रहकर जातीय अस्मिता को जीवन्त बनाता है।"[1] उनके नाटक न केवल तत्कालीन समय में महत्त्वपूर्ण थे बल्कि आज के समय में भी महत्त्वपूर्ण हैं। चाहे जाति की समस्या हो, चाहे अंतर–राष्ट्रीय संबंधों की बात हो, चाहे धर्म के बिगड़ते स्वरूप की बात हो, चाहे सांप्रदायिक विद्वेष की समस्या हो, चाहे महिला सशक्तिकरण की बात हो, ...इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए हम प्रसाद के नाटकों का अध्ययन कर सकते हैं, नाटकों का एक–एक संवाद हमें अपने आस–पास की परिस्थितियों को जानने की दृष्टि देता है। 'प्रायश्चित' का कथावृत जनश्रुति पर आधारित है। 'करूणालय' दृश्य काव्य गीतिनाट्य के ढ़ग पर लिखा गया है। 'विशाख' ऐतिहासिक कम काल्पनिक ज्यादा लगता है। 'कामना' प्रतीकात्मक शैली में लिखा गया अन्योपदेशिक एवं काल्पनिक नाटक है। 'कल्याणी–परिणय' रूपक है। 'अजातशत्रु' में यथार्थ नाट्य कला के दर्शन होते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक को औपान्यासिक या महाकाव्यात्मक कहा गया है। 'एक घूँट' एकांकी–कला की संभावना प्रस्तुत करता है। 'ध्रुवस्वामिनी' समस्या–नाटकों की श्रेणी में आता है, कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक–रचना के क्षेत्र में यह विविधता उनके आधुनिक चिंतन को

ही प्रतिबिंबित करता है। जिस प्रकार कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद का आगमन एक क्रांतिकारी घटना मानी जाती है उसी प्रकार हिन्दी नाट्य साहित्य में प्रसाद का आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। नाट्य विधा के विकासक्रम में उनका सर्वोपरि स्थान है। "उन्होंने नाट्य-क्षेत्र में प्रवेश कर नाटक को नए चरित्र, नई घटनाओं, नया ऐतिहासिक देशकाल, नया आलाप-संलाप, संक्षेप में संपूर्ण नया समारम्भ दिया।"[2]

प्रसाद ने इतिहास का गंभीर अध्ययन कर भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के महान स्वरूप का गौरवगान अपने नाटकों में किया। परन्तु वे देश की समकालीन परिस्थितियों से भी अवगत थे। अंग्रेजी हुकूमत के अत्याचारी, अन्यायी रवैये से भी वाकिफ थे। देश के राजनैतिक भविष्य को लेकर भी सजग थे। यही कारण है कि उनके नाटक इतिहास पर आधारित होकर भी इतिहास के नहीं लगते। उनका इतिहास-बोध कमाल का था। उनका उद्देश्य इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ना नहीं था, जैसा कि उन पर आरोप लगाया जाता है बल्कि वे तो इतिहास के माध्यम से भारतीय जनता को विदेशी जातियों की कूटनीतियों के प्रति सजग और जागरूक करना चाहते थे, उनमें देशप्रेम जगाना चाहते थे इसलिए उन्होंने अपने नाटकों में चाणक्य, स्कन्दगुप्त और देवसेना जैसे पात्रों की रचना की जिन्होंने देश के लिए अपना जीवन कुर्बान कर दिया। उन्होंने स्वयं लिखा है-"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन करने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।"[3] उन्होंने इतिहास का अध्ययन कर इतिहास के केवल उन्हीं प्रसंगों को उठाया जो देश की आधुनिक परिस्थितियों में मेल खाती थी। ऐसा केवल आधुनिक दृष्टिबोध रखने वाला साहित्यकार ही कर सकता था। प्रसाद केवल भारत ही नहीं बल्कि पूरे विश्व में शान्ति स्थापित करना चाहते थे। "यदि एक भी रोते हृदय को तुमने हँसा दिया, तो सहस्त्रों स्वर्ग तुम्हारे अन्तर में विकसित होंगे। फिर तुमको पर दुख का तरता में ही आनंद मिलेगा। विश्व-मैत्री हो जायेगी, विश्वभर अपना कुटुम्ब दिखाई पड़ेगा।"[4] इसके लिए प्रसाद ने अपने नाटकों में अंतर्राष्ट्रीय-(चंद्रगुप्त एवं कार्नेलिया), अंतर्प्रांतीय-(अजातशत्रु एवं वाजिरा), अंतर्जातीय विवाह-(जन्मेजय एवं मणिमाला, सरमा एवं वासुकी चंद्रलेखा एवं विशाख) पर बल दिया।

उनके नाटकों में मंत्रिपरिषद् का निर्माण, मानवता, राष्ट्रीयता, गांधीवादी मूल्यों की महत्ता, स्वतंत्रता, विश्वदृष्टि, इतिहास चेतना, बौद्धिकता, तर्कणा और विश्वास, धर्म के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण, जागरण, मानवीय मूल्यों की रक्षा, समसामायिक चिंतन आदि ऐसे अनेक बिन्दु हैं जो उनके नाटकों में आधुनिकता को प्रकट करते हैं। प्रसाद के नाटकों में मानवता का स्वर बहुत ऊँचा है। प्रसाद ने मानवता को व्यापक अर्थ प्रदान किया है। विशाख नाटक का प्रेमानंद, जो संन्यासी होने के साथ-साथ विशाख का गुरु भी है, वह पूरे नाटक में मानवता की सिद्धि के लिए ही क्रियाशील है। वह राजा नरदेव को कहता है-"ठीक है, नरदेव, यह विचार तुम्हारा ठीक है। प्रमाद, आतंक, उद्वेग आदि स्वप्न हैं, अलीक हैं। किन्तु क्या इससे पहले भी विचार किया था? क्या मानवता का परम उद्देश्य तुम्हारी अविचार-वन्या

में नहीं रह गया था? विचारो, सोचो, फिर राजा होना चाहते हो?"[5] ...जिस राजा नरदेव ने न केवल विवाहित चंद्रलेखा पर कुदृष्टि डाली, न केवल उसकी बसी-बसाई गृहस्थी को उजाड़ने का प्रयास किया बल्कि अपनी कामना को पूर्ण कर पाने के प्रतिशोध में चंद्रलेखा के पति विसाख को मृत्यु दण्ड की सजा सुनाता है। जबकि अपराधी स्वयं नरदेव है, जबकि नाटक के अंत में वही चंद्रलेखा राजा नरदेव के पुत्र को नाग विद्रोहियों से बचाकर उसे जीवन दान देती है। मानवता की रक्षा का इससे बड़ा उदाहरण भला और क्या हो सकता है। परोपकार, करुणा को प्रसाद ने मानवता के पोषक तत्त्व माने हैं। अजातशत्रु में गौतम और मल्लिका इन दोनों सिद्धांतों के पथ पर चलने का संदेश देते हैं मल्लिका-"शांति मिले, विश्व शीतल हो। बहिन, क्या तुम अब भी राजकुमार को उत्तेजित करके उसे मनुष्यता से गिराने की चेष्टा करोगी?"[6] इसी तरह जन्मेजय के नाग-यज्ञ नाटक में भी समता की स्थापना के लिए मानवता की घोषणा की है-"यह पूर्ण सत्य है कि जड़ के रूप में चेतन प्रकाशित होता है। अखिल विश्व एक संपूर्ण सत्य है। असत्य का भ्रम दूर करना होगा, मानवता की घोषणा करनी होगी, सबको अपनी क्षमता में ले जाना होगा।"[7] चंद्रगुप्त नाटक में कार्नेलिया भारत को मानवता की जन्मभूमि मानती है और अपना दिल चंद्रगुप्त को दे बैठती है-"नहीं चंद्रगुप्त, मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। ....यह स्वप्नों का देश-यह त्याग और ज्ञान का पालना-यह प्रेम की रंगभूमि-भारतभूमि क्या भुलायी जा सकती है? कदापि नहीं-अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि हैं, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।"[8] एक घूँट को पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सम्पूर्ण कथानक का निर्माण मानवता की स्थापना के लिए ही किया गया है। "भाई, पिता, माता, और स्त्री को भी इन विशेष उपाधियों से मुक्त होकर प्यार करना सीखिए कि हम मानवता के नाते स्त्री को प्यार करते हैं। मानवता के नाम. ....हां मानवता के नाम पर, बात तो बड़ी अच्छी है। किन्तु मानवता का आदान-प्रदान चाहती है, विशेष स्वार्थों के साथ।"[9] इसके साथ ही प्रसाद ने बौद्ध धर्म की विकृतियों को दिखाकर धर्म के स्वरूप की व्याख्या की है।

जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में राष्ट्रीय भावना को मुखर किया है क्योंकि वे राष्ट्र की समस्याओं के प्रति सजग थे। उनके नाटकों का रचनाकाल प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ और द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य का था। उस समय भारत विदेशियों अर्थात् अंग्रेजों के अधीन था। और ऐसा नहीं था कि अंग्रेजों से पहले कोई विदेशी जाति भारत में नहीं आई हो इससे पहले शक, हूण और यूनानी भी भारत के वैभव को देखकर यहाँ आए और यहाँ की भोली-भाली जनता को लूटा और उन पर अत्याचार किए। राज्यश्री, चंद्रगुप्त, स्कंदगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, जन्मेजय का नागयज्ञ, विशाखा, कामना ...अर्थात् उनके अधिकांश नाटकों में राजनीति को प्रमुखता से रखा है। शक, हूण और यूनानी अंग्रेजों के प्रतिरूप लगते हैं। प्रसाद को लगता था कि देश के युवाओं में जोश भरने की आवश्यकता है। उनमें देशभक्ति की भावना का संचार करना होगा। पर्णदत्त ने देश के नवयुवकों पर व्यंग्य करते हुए कहा है-"जिस देश के नवयुवक ऐसे हों, उसे अवश्य ही दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए। देश

पर यह विपत्ति, फिर भी यह निराली धज़।"[10] राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत चंद्रगुप्त नाटक में सिंहरण केवल मालव को अपना देश नहीं बल्कि संपूर्ण आर्यावर्त को अपना देश कहकर एकता की बात करता है-"परन्तु मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या, समग्र आर्यावर्त्त है।"[11] इतना ही नहीं अपने देश की खातिर गांधार की राजकुमारी अलका अपने देशद्रोही भाई का विरोध करती है। वह पराधीनता के दुख को समझती है-पराधीनता से बढ़कर विडंबना और क्या हो सकती है? अब समझ गये होंगे कि वह संधि नहीं, पराधीनता की स्वीकृति थी। वह देश की जनता में देशभक्ति जगाने के लिए जागरण गीत गाती है - "हिमाद्री तुंग-श्रंग से....।"[12] ध्रुवस्वामिनी नाटक में ध्रुवस्वामिनी और चंद्रगुप्त का पुर्नलगन प्रसाद की प्रगतिशीलता को दर्शाता है। ध्रुवस्वामिनी अपनी मर्जी से चंद्रगुप्त का वरण करती है। नाटक में रामगुप्त का अंत एक तरह सामंतवादी व्यवस्था का अंत दिखाया है। प्रासाद ने अन्यायी राजा और साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था का विरोध कर जनतंत्र की स्थापना की है। उनके नाटकों में राजा के खिलाफ विद्रोह, अत्याचारी राजा पर प्रजा की जीत और उसके बाद मंत्रिपरिषद् का निर्माण करना उनकी आधुनिक सोच को दर्शाता है। क्योंकि आगे चलकर आजाद भारत में लोकतंत्र की ही स्थापना होती है।

संदर्भ :

1. शोध प्रतिमान में संकलित निबंध-डॉ. एस.एस.एन. अय्यर
2. आधुनिक साहित्य-पं. नंददुलारे वाजपेयी
3. अजातशत्रु-प्रसाद
4. अजातशत्रु-प्रसाद
5. विशाख-प्रसाद
6. अजातशत्रु-प्रसाद
7. जन्मेजय का नागयज्ञ-प्रसाद
8. अजातशत्रु-प्रसाद
9. एक घूँट-प्रसाद
10. स्कन्दगुप्त - प्रसाद
11. चंद्रगुप्त-प्रसाद
12. चंद्रगुप्त-प्रसाद

मैत्रेयी कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

✦✦✦

ब्राह्मण संस्कृत साहित्य में निहित ऐतिहासिक तत्त्व

डॉ० अजय परमार

डॉ. आर. सी. मजूमदार का मत है, कि इतिहास लेखन के प्रति भारतीयों की विमुखता भारतीय संस्कृति का भारी दोष है। इसका कारण बताना सरल नहीं है। भारतीयों ने साहित्य की अनेक शाखाओं से सम्बन्ध स्थापित किया और उनमें से कई विषयों में विशिष्टता भी प्राप्त की। किंतु फिर भी उन्होंने कभी गम्भीरता पूर्वक इतिहास लेखन की ओर ध्यान नहीं दिया[1]। कुछ लेखकों ने तो यहां तक कह डाला, कि प्राचीन भारत के लोगों मे ऐतिहासिक बोध था ही नहीं, किंतु उपर्युक्त विचार को अब सामान्यत: स्वीकार नहीं किया जाता । डा. ए.बी. कीथ जैसे विद्वान भी यह स्वीकार करते हैं, कि भारतीयों में एतिहासिक चेतना का प्राचीन काल मे भी अभाव नहीं था, जिसका प्रमाण कुछ ग्रंथो तथा तथ्यों[2] से प्राप्त होता है।

यह बात जरूर है, कि प्राचीन भारतीयों ने इतिहास को उस दृष्टि से नही देखा, जिससे कि आज के विद्वान देखते हैं। उनका दृष्टिकोण पूर्णत: धर्मपरक था। उनकी दृष्टि मे इतिहास साम्राज्यों अथवा सम्राटों के उत्थान पतन की गाथा न होकर उन समस्त मूल्यों का संकलन मात्र था, जिनके ऊपर मानव जीवन आधारित है। अत: उनकी बुद्धि धार्मिक और दार्शनिक ग्रंथों की रचना मे ही अधिक लगी न की राजनैतिक घटनाओं के अंकन में।[3] अत: विभिन्न दृष्टिकोण से रचित होने के कारण अधिकांश भारतीय ग्रंथ आधुनिक परिभाषा के अन्तर्गत यद्यपि इतिहास ग्रंथ नहीं हैं, तथापि उनमें बहुमूल्य ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है[4]।

राजनैतिक इतिहास और राजवंशों का अध्ययन ऐतिहासिक व्याख्या के महत्वपूर्ण पहलू हैं, किंतु इन्हें आज दूसरी ऐसी विशेषताओं के संदर्भ मे देखा जाना चाहिए। जिससे किसी राष्ट्र अथवा संस्कृति का निर्माण होता है। राजनैतिक ढांचे में होने वाले परिवर्तन आर्थिक ढांचे के परिवर्तनों से पूर्ण रूपेण जुड़े होते हैं और इनका फिर सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। अगर किसी धार्मिक आंदोलन के बड़ी संख्या में अनुयायी बनते हैं, तो उसमें कोई ऐसी बात अवश्य होगी, जो उसका समर्थन करने वाले लोगों के लिये सार्थक हो। अत: भारतीय इतिहासकार के लिये उन लोगो के विचारों को प्रस्तुत करना या उनका विश्लेषण करना ही पर्याप्त नहीं है, जिन्होंने भारत के इतिहास को रूप देने और उसका खाका तैयार करने का प्रयत्न किया। अपितु यह जानना भी आवश्यक है, कि शताब्दियों तक भारत के लागो ने क्यों इन विचारों को स्वीकार, अस्वीकार या संशोधित किया[5]।

इस आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास के स्त्रोत रूप में ब्राह्मण संस्कृत साहित्य का महत्व और अधिक हो जाता है। ये ऐसे साहित्य हैं, जो हजारों साल से चली आ रही भारतीय संस्कृति के इतिहास की समृद्धशाली परम्परा को संकलित किये हुए हैं। ब्राह्मण संस्कृत साहित्य मे सर्वप्रथम वेदों का नाम आता है। ये मानव जाति के प्राचीनतम धर्म ग्रंथ हैं। आर्य संस्कृति प्रारम्भ मे ग्रामीणी सभ्यता थी, जबकि इससे पूर्व भारत में बहुत पहले अत्यंत, उन्नत हड़प्पा नामक नगरीय सभ्यता का विकास हो चुका था। इस दृष्टि से आर्यों का आगमन एक पिछड़ा हुआ कदम था। क्योंकि उत्तर भारत को फिर से ग्रामीण तथा बंजारा जीवन से निकलकर नागरिक संस्कृतियों के विकास की प्रक्रिया से गुजरना पड़ा। इसलिए ग्रामीण संस्कृति से नगरीय संस्कृति तक पहुंचने वाली विकास की इस यात्रा में जो भी परिवर्तन हुए, इन सबों का वर्णन वेदों मे देखने को मिलता है। अतः उस समय की संस्कृति, सभ्यता, आचार-विचार, धार्मिक मान्यताओं, रीति-रिवाजों इत्यादि को भी जानने के ये एक मात्र स्त्रोत है[6]।

हमारा प्राचीनतम साहित्यक स्त्रोत ऋग्वेद है। जिसकी रचना अधिकांश विद्वान ईसा पूर्व लगभग 1500-1000 मानते हैं। शेष वैदिक साहित्य सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद ईसा पूर्व लगभग 1000-600 में रचा गया[7]। आर्यों के जीवन और संस्थाओं के ऐतिहासिक पुनर्निर्माण का आधार यही साहित्य हैं। ऋग्वेद मे आर्य देवताओं की स्तुतियाँ है। यद्यपि इनमें घटनाओं का वर्णन नहीं है, परंतु फिर भी वे आर्यों के जीवन पर कुछ प्रकाश अवश्य डालते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से उन्हें बहुत कुछ प्रामणिक माना जा सकता है, क्योंकि उनकी रचना उसी समय हुई थी। जिसका उनमें वर्णन है[8]। ऋग्वेद से भारत मे आर्यों के प्रसार, उनके संघर्षो आदि के विषय में ऐतिहासिक सूत्र मिलते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में उस युग के बहुत से जनों का उल्लेख है, विशेषतया वहाँ जहाँ जनों के पारस्परिक संघर्षों जैसे-दशराज्ञ युद्ध की चर्चा होती है। ऐसा कहा जाता है, कि सुदास पश्चिम पंजाब में भरत जन का राजा था और विश्वामित्र उसके मुख्य पुरोहित थे। सुदास विश्वामित्र को हटाकर उनके स्थान पर वशिष्ठ को मुख्य पुरोहित बनाना चाहता था। क्योंकि उनका पुरोहितोचित ज्ञान श्रेष्ठ माना जाता था। इससे क्रुद्ध होकर विश्वामित्र ने दस जनों का संघ बनाकर सुदास पर धावा बोल दिया। परंतु जीत सुदास की हुई[9]।

सामदेव एवं यजुर्वेद में किसी भी विशिष्ट ऐतिहासिक घटना का वर्णन नहीं मिलता है। जबकि अथर्ववेद का महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से इस बात में है, कि इसमें सामान्य मनुष्यों के विचारों तथा अंध विश्वासों का विवरण तो मिलता ही है, परंतु साथ ही यह भी आभास होता है, कि इस समय आर्यों एवं अनार्यों की संस्कृतियों मे भी समन्वय स्थापित हो रहा था तथा आर्यों ने अनार्यों के कई सामाजिक एवं धार्मिक रीति रिवाजों एवं विश्वासों को ग्रहण कर लिया था। अथर्ववेद में पंजाब के अतिरिक्त महावृषों, वाल्हीको, मूजवन्तों और गन्धारियों के प्रदेशों से लेकर अंग और मगध तक के सम्पूर्ण उत्तर भारत का वर्णन हुआ है[10]। इसमें परीक्षित को कुरूओं का राजा बताया गया है तथा कुरू देश की समृद्धि का भी अच्छा

चित्रण किया गया है[11]। इस प्रकार वेदों द्वारा हमें आर्यों के आधारभूत विश्वासों, जीवन के प्रति दृष्टिकोण, मानसिक क्रियाशीलता आदि का विस्तृत ज्ञान तो प्राप्त होता ही है, परन्तु साथ ही वैदिक मंत्रों के विषयों और अर्थ द्वारा हमें तत्कालीन इतिहास की घटनाओं की जानकारी भी प्राप्त होती है[12]।

सभी वेदों के अलग-अलग ब्राह्मण ग्रंथ हैं। ये गद्य में हैं और कर्मकाण्ड की पद्धति का उल्लेख करते हैं, किंतु इनमें हमें उत्तर वैदिक काल में आर्यों के विस्तार और उनके धार्मिक विश्वासों की जानकारी मिलती है[13]। इन ग्रंथों से हमें परीक्षित के बाद और बिम्बिसार के पूर्व की घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है। ऐतरेय, शतपथ, तैतिरीय, पंचविश आदि प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों में अनेक ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में स्पष्ट रूप से ऐसे बारह राजाओं की चर्चा है। जो महाभिषेक संस्कार हो जाने के बाद पृथ्वी पर विजय करते हुए, एक क्षेत्र से दूसरे कोनें तक गये और उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किये[14]। ऐतरेय ब्राह्मण में राजा भीम को वैदर्भ कहा गया है[15]। इसका अर्थ है कि दक्षिण में विदर्भ तक आर्यों का विस्तार हो चुका था। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद के बाद शतपथ ब्राह्मण का स्थान है। कर्मकाण्डों के अतिरिक्त इसमें सामाजिक विषयों का भी वर्णन है। शतपथ में गन्धार, शल्य, कैकेय, कुरू, पांचाल, कौसल, विदेह आदि राजाओ का उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में भरतों के दो राजाओं-भरत दौष्यन्ति और शतानीक सात्राजित के अश्वमेध करने का उल्लेख है। उन्होने गंगा और यमुना तक बढ़कर पूर्व में काशी और पश्चिम में सात्वतों को जीता[16]। इसी प्रकार आरण्यक तथा उपनिष्दों मे भी कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होते हैं[17]। जैसे उपनिषदों में पूर्वी भारत के मिथिला राज्य का बार-बार उल्लेख हुआ है[18]।

वैदिक काल के अंत में वेदों का अर्थ ठीक प्रकार से समझने के लिये वेदांग की रचना हुई[19]। जिसमें जीवन के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्ध रखने वाले नियमों, उपनियमों और विधि-विधानों को क्रमानुसार संगठित कर दिया गया[20]। व्याकरण ग्रंथों मे सबसे महत्वपूर्ण पाणिनीकृत अष्टाध्यायी है[21]। जिससे हमें तत्कालीन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त होती है। डा. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार मध्य एशिया से लेकर कलिंग तक एवं सौवीर (सिंध) से लेकर पूर्व मे असम प्रदेश में सूरमस (वर्तमान सूरमा नदी) प्रदेश तक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रों के स्थान नाम अष्टाध्यायी में पाये जाते है[22]। तत्कालीन जनपदों में पाणिनी ने कम्बोज (आधुनिक पामीर और बदख्शाँ का सम्मिलित प्रदेश) गंधार, सिंधु, सौवीर (सिंध प्रांत का द. प्रदेश) ब्राह्मण्क (सिंधु प्रांत का म.प.) कच्छ, कैकय (गुजरात), मद्र (स्यालकोट), त्रिगर्त (रावी, सतलज और व्यास के बीच का प्रदेश) कुरू, कोसल, काशी, मगध, अवन्ति, कलिंग, अश्मक (गोदावरी तट पर) आदि का उल्लेख किया है[23]। ई.पू. दूसरी शती में पतंजली ने अष्टाधायी पर महाभाष्य नामक टीका लिखी। जिसमें हमें पुष्यमित्र शुंग के विषय में तथा तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की जानकारी मिलती है[24] [25]। बौधायन और वशिष्ठ धर्म सूत्र ग्रंथों में आर्यों के क्षेत्र की सीमाओं का वर्णन किया गया है। बौधायन में लिखा है, कि आर्यवर्त विनशन के पूर्व कालकवन के

पश्चिम हिमालय के दक्षिण ओर परियात्र के उत्तर में स्थित है[26]। वशिष्ठ धर्मसूत्र मे भी आर्यवर्त की सीमाओं का उल्लेख है[27]। बौधायन में यह भी लिखा है कि अवन्ति, अंग, मगध सौराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, दक्षिण पथ आदि प्रदेशो में वर्णसंकर जातियों के लोग रहते थे। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि आर्यवर्त में अनार्य जातियाँ निवास करती थी, जिनकी अपनी संस्कृति थी।

सूत्र साहित्य के बाद स्मृतियों की रचना हुई[28]। सबसे प्राचीन स्मृति मनु की है। जिसके अध्ययन से शुंग कालीन भारत की राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक दशा का बोध होता है। इससे ब्रह्मवर्त, ब्रह्मर्षि देश और आर्यवर्त का उल्लेख है। ब्रह्मवर्त प्रदेश सरस्वती नदी और दृशद्वती नदी के बीच मे था। आधुनिक पंजाब और उत्तर प्रदेश का अवध, रूहेलखण्ड का भाग ब्रह्मर्षि देश कहलाता था। इसमें कुरूक्षेत्र, पांचाल, मत्स्य और शूरसेन नामक आर्यों के राज्य थे। सरस्वती नदी तथा प्रयाग के बीच के क्षेत्र को मध्य देश कहा जाता था और लगभग समस्त उत्तरी भारत को विन्ध्या और हिमाचल के बीच के प्रदेश को आर्यवर्त के नाम से जाना जाता था। आर्य संस्कृति का यह विस्तृत क्षेत्र था। विष्णु स्मृति में तो आर्यवर्त का क्षेत्र अधिक व्यापक था। क्योंकि उसमें लगभग समस्त भारत वर्ष सम्मिलित कर लिया गया था। इससे आभास होता है कि विष्णु स्मृति के रचना काल में आर्य संस्कृति का प्रसार दक्षिण भारत मे हो गया था[29]। नारद और पराशर स्मृति में भी गुप्त काल के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएं प्राप्त होती हैं। बृहस्पति एवं कात्यायन स्मृतियाँ भी गुप्तकाल की ही रचनाएँ हैं।[30] [31]

भारतीय संस्कृत साहित्य में रामायण एवं महाभारत का विशेष महत्व है।[32] राजनीति तथा शासन के विषय में तो यह ग्रंथ बहुमूल्य हैं ही, परंतु साथ ही इन महाकाव्यों में तत्कालीन धार्मिक, नैतिक, दार्शनिक, आदर्शों के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं का भी संग्रह है। रामायण में यवन देश तथा शकों का नगर कुरू तथा मद्र देश और हिमालय के बीच स्थित बताया गया है। इससे प्रतीत होता है, कि इन दिनों यूनानी तथा सीथियन लोग पंजाब के कुछ भागों में बसे हुए थे।[33] ऐतिहासिक दृष्टि से श्री राम की दक्षिण यात्रा आर्यों की दक्षिण विजय का प्रथम वर्णन है। रामायण इस ओर स्पष्ट संकेत करती है, कि राजा राम भारत में सुदुर दक्षिण में आर्यों के उपनिवेश स्थापित करने में सफल रहे।[34] भारत का यह दक्षिण भाग रामायण में विशाल अरण्य के रूप में वर्णित किया गया है। जहां वानर, भालू इत्यादि असभ्य या अर्द्धसभ्य जातियाँ निवास करती थी। विराध और कबंध जैसे भयंकर राक्षस यहां निवास करते थे।[35] महाभारत के अनुसार इस समय दक्षिण भारत में भी कई राज्य स्थापित हो चुके थे। क्योंकि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में दक्षिण भारत के कई राजाओं ने भाग लिया था।[36] महाभारत में भी शक, यवन, पारसीक, हूण आदि जातियों का उल्लेख मिलता है।[37] इस प्रकार कहा जा सकता है, कि रामायण के समय में भारत का उत्तरी भाग आर्य तो अवश्य था। परंतु वह कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि छोटे-छोटे राज्यों में बंटा हुआ था। इसके विपरीत महाभारत में जरासंध को एक शक्तिशाली राजा के

रूप में बहुत विशाल भूमि भाग का स्वामी बतलाया गया है।[38]

भारतीय ऐतिहासिक कथाओं का सबसे अच्छा क्रमबद्ध विवरण पुराणों में मिलता है।[39] डा. ईश्वरी प्रसाद का कथन है, कि पुराणों ने इतिहास लेखन की प्रक्रिया के आरम्भिक स्वरूप का निर्धारण किया। इतिहास वर्णन पुराणों का प्रमुख उद्देश्य प्रतीत होता है।[40] पुराणों में पृथ्वी के प्रथम राजा पृथु एवं दसवें मनु का वर्णन है। महाप्रलय की घटना का भी वर्णन है। जिसमें मत्स्य की मदद से मनु तथा मनु का परिवार एवं सप्त ऋषि अपने आप को बचाते हैं। मनु के नौ पुत्रों में सबसे बड़ा पुत्र अर्धनारीश्वर था। इसलिए उसके दो नाम इला और इल थे। इल से सूर्य एवं इला से चंद्रवंश नामक शाखा का जन्म हुआ।[41] इसलिए पुराण का आरम्भ उन राजाओं से होता है, जो अपने वंश का सम्बन्ध सूर्य और चंद्र से जोड़ते हैं। पुराणों में मनु की वंशावली का वर्णन महाकाव्य काल के राजाओं तक किया गया है। वे बहुत से ऐसे राजाओं का वर्णन करते हैं। जो मध्य देश में राज्य किया करते थे। ये महाकाव्य से लेकर बुद्ध के आगमन तक के काल के बारे में भी सूचनाएं देते हैं।[42] पुराण में सबसे महत्वपूर्ण अध्याय विभिन्न राजाओं की वंशावालियो पर है। इनमें मत्स्य पुराण सबसे अधिक प्राचीन एवं प्रमाणिक है। जिसमें हमें मौर्य, शिशुनाग और आंध्र (सातवाहन) वंश के विषय में महत्वपूर्ण सूचनाएं उपलब्ध होती हैं। मौर्य वंश के लिए विष्णु पुराण भी मुख्य है। तो वायु पुराण में गुप्त वंश की साम्राज्य सीमा का वर्णन तथा इनकी शासन पद्धति का कुछ विवरण प्राप्त होता है।[43] इसके अतिरिक्त पुराणों में विदेह, नाभेय, एला, हैहय, यादव, तुर्वशु, पौरव, आभीर, गर्दभ, यवन, तुषार, हूण, चेदी, ब्रहद्रथ, प्रद्योत, नंद आदि वंशो का भी विस्तृत ब्यौरा प्राप्त होता है।[44]

इस प्रकार उपरोक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के स्त्रोत रूप में ब्राह्मण संस्कृत ग्रंथों का अत्यंत महत्व है। यद्यपि हमारे पास कोई ऐसा विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है, जिसके आधार पर हम प्राचीन भारतीय इतिहास के बिखरे मोतियों को एक लड़ी में पिरो सकें। परंतु फिर भी यह कह सकने में कोई संकोच नहीं है, कि भारतीयों में अवश्य ही ऐतिहासिक चेतना विद्यमान थी।

संदर्भः

1. डा. आर.सी. मजूमदार, प्राचीन भारत, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, जवाहर नगर, दिल्ली 110007, 2002, पृ. xvii-xviii
2. डा. ए.बी. कीथ, ऐ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ0 144-47
3. डा. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो इलाहबाद, 1999, पृ. 3-4
4. विमलचंद्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास भाग - 1 सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहबाद, 1999, पृ. 02

5. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015, पृ.18
6. आर्यो के जीवन में किस प्रकार स्थायित्व आया। पशु विचरक से वे किस प्रकार खेती कर एक स्थान पर बसने वाले बनें। कृषि ने किस प्रकार उद्योगों को बढ़ावा दिया और उद्योगों से किस प्रकार वाणिज्य एवं व्यापार विकसित हुए, सबका वर्णन वेदों में है। यही नहीं किस प्रकार राष्ट्र की उत्पत्ति हुई एवं शासन व्यवस्था का विकास हुआ तथा समाज में वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति, सामाजिक संस्कार एवं धार्मिक उपासना किस प्रकार विकसित हुई। उसका भी वर्णन वेदों में है।
7. इसी काल में ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों की भी रचना हुई।
8. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015, पृ. 25
9. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015, पृ. 28
10. अथर्ववेद 5/22/14
11. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद, 1999, पृ. 05
12. डा. ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा, भारत का प्राचीन इतिहास, मीनू पब्लिकेशन, म्योर रोड, इलाहबाद, 1985, पृ. - 02
13. द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्री माली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993, पृ. 21
14. डा. आर.सी. मजूमदार, प्राचीन भारत, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, जवाहर नगर, दिल्ली 110007, 2002, पृ. 51
15. ऐतरेय ब्राह्मण 7/34/9
16. डा. आर.सी. मजूमदार, प्राचीन भारत, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, जवाहर नगर, दिल्ली 110007, 2002, पृ. 51
17. उपनिषद एवं आरण्यक ग्रंथ मुख्यत: दार्शनिक ग्रंथ हैं। जिनका ध्येय ज्ञान की खोज करना है। जिसमे सृष्टि की रचना किसने की, जीव क्या है, मृत्यु के उपरांत जीव का क्या होता है, ईश्वर का स्वरूप क्या है, मनुष्य को वास्तविक सुख किस प्रकार मिल सकता है, आदि उदाळा पक्षों को प्रस्तुत किया गया है।
18. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद 1999, पृ. 05
19. वेदो के छ: भाग है - शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरूक्त, छंद और ज्योतिष
20. बी.एन. लुणिया, प्राचीन भारतीय संस्कृति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2012, पृ. 148

21. अधिकांश विद्वान इसे सूत्र काल की प्रारम्भिक रचना मानते हुए इसके समय को लगभग ईसवी पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी के लगभग मानते है।
22. इस काल के विशेष अध्ययन के लिये देखिये डा. वासुदेव शरण अग्रवाल कृत पाणिनी कालीन भारत वर्ष
23. विमल चंद्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग-1, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहबाद, 1999, पृ. 168
24. द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्री माली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993, पृ. 22
25. सूत्र ग्रंथों में वर्णित विषय एवं स्थान तथा अन्य ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से विद्वानों ने सूत्र ग्रंथों का रचना काल ईसा पूर्व सातवीं सदी से लगभग ईसा पूर्व दूसरी तक माना है। इससे इस युग की सभ्यता एवं संस्कृति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।
26. बौधायन धर्मसूत्र 1/1/27
27. वशिष्ठ धर्म सूत्र, 108-09
28. इन्हें धर्मशास्त्र भी कहा गया है। मनुष्य को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये आदि विचारों का विस्तृत वर्णन इसमें है।
29. बी.एन. लूणिया, प्राचीन भारतीय संस्कृति, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2012, पृ. 189
30. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, युनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद, 1999, पृ. 07 एवं द्विजेन्द्र नारायण झा एवं कृष्ण मोहन श्री माली, प्राचीन भारत का इतिहास, हिन्दी, कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1993, पृ. 22
31. मनुस्मृति की रचना ई.पू. 200 से 200 ई., याज्ञवलक्य की रचना 100 से 300 ई., नारद स्मृति की रचना (300 ई. से 400 ई.) और पराशर स्मृति की रचना (300 ई. से 500 ई.), बृहस्पति स्मृति की रचना (300 ई. से 500 ई.), कात्यायन स्मृति की रचना (400 ई. से 600 ई.) के बीच मानी गयी हैं।
32. मूलत: इस ग्रंथों की रचना काल क्रमश: ईसा पूर्व छठी शताब्दी एवं चौथी शताब्दी ई. पू. माना जा सकता है। जबकि इनका वर्तमान स्वरूप सम्भवतया दूसरी एवं चौथी शताब्दी में रचा गया। के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद 1999, पृ. 06 एवं विमल चंद्र पाण्डेय, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग-1, सेन्ट्रल पब्लिशिंग हाउस, इलाहबाद, 1999, पृ. 200-201
33. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद 1999, पृ. 06
34. बी.एन. लुणिया, प्राचीन भारतीय संस्कृति लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, 2012, पृ. 164

35. डा. पुष्पा गुप्ता, संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, 1994, पृ. 14
36. डा. पुष्पा गुप्ता, संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, 1994, पृ. 14
37. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद 1999, पृ. 06
38. डा. पुष्पा गुप्ता, संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, 1994, पृ. 14
39. पुराणों की संख्या 18 है। जिसके रचियता लोमहर्ष अथवा उसके पुत्र उग्रश्रवा मानें जाते हैं। पुराणों के विवरण लगभग 500 ई.पू. से 500 ई. के मध्य संकलित किये गये।
40. डा. ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा, भारत का प्राचीन इतिहास, मीनू पब्लिकेशन, म्योर रोड, इलाहबाद, 1985, पृ. 03
41. रोमिला थापर, भारत का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2015 पृ. 25
42. वी.डी. महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, एस चन्द एण्ड कम्पनी, प्रा. लि. रामनगर नई दिल्ली, 2015, पृ. 09
43. के.सी. श्रीवास्तव, प्राचीन भारतीय इतिहास तथा संस्कृति, यूनाइटेड बुक डिपो, इलाहबाद 1999, पृ. 07
44. डा. पुष्पा गुप्ता, संस्कृत साहित्य का विशद इतिहास, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर, दिल्ली, 1994, पृ. 43

(सहायक आचार्य, प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, बहादराबाद, हरिद्वार, उत्तराखण्ड)

✦✦✦

आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में नैतिक मूल्यों के संरक्षण की आवश्यकता

-डॉ. गार्गी नैनवाल

विश्व की संस्कृति समय-समय पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुयी है। समय एवं परिस्थितियों के अनुसार धूल-धूसरित भी हुयी है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विश्व की पुरानी एवं प्रभावशाली संस्कृतियाँ यूनान मिश्र व रोम की सभ्यता एवं संस्कृतियाँ भी काल के दुष्चक्र के आगे नहीं टिक सकी। किन्तु हमारी भारतीय संस्कृति पर किसी भी प्रकार की आंच न आ सकी, भारतीय संस्कृति की अनेक विशेषताओं में एक विशेषता यह भी है कि वह प्राचीनता के साथ-साथ नवीनता को ग्रहण कर लेती है। हमारी आधुनिक संस्कृति भारतीय एवं पाश्चात्य संस्कृति का समन्वित रूप है। यह भारतीय संस्कृति ही है जिसने कि विभिन्न आक्रान्ताओं की संस्कृतियों के मुख्य तत्त्वों को ग्रहण कर अपने मूल स्वरूप को बचाये रखा है।

नैतिकता एवं नैतिक मूल्य ये भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्व है। पुराण स्मृति ग्रन्थ, प्रसिद्व महाकाल, नीतिग्रन्थ इन सभी में नैतिक गुणों को व्यक्ति एवं समाज के लिए आवश्यक माना है वेदों में प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह राजा हो या सामान्य हो सबके लिए निश्चित नियम थे यह नैतिकता के ही अन्तगर्त आता है कि राष्ट्र को मातृस्वरूपा माना गया - माता भूमिः पुत्रोखहं पृथिव्याः। अथर्व 12.1.12

उस काल में भी अपरोधी, दोषी, दूसरों को ठगना, खाद्य पदार्थ में मिलावट करने एवं कम तोंकने वाले के लिए भी दण्ड व्यवस्था थी, **त्रिर्यातुधानः प्रसिति त एतु।** अथर्व 8.3.11।

उषाकाल में जागरण की आदत को आवश्यक बताया गया है, क्योंकि उदित होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से (आरोग्य, दीर्घ जीवन, मन की शान्ति, बुद्धि की प्रखरता) आदि की वर्षा करता है।

ज्योतित्योतिमृतं मर्त्येम्य उधन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति। अर्थ 12.1.15

अर्थवेद में कहा गया है कि सूर्य मस्तिक एवं हृदय के रोगों को दूर करता है-

स नो देवः सविता सहावा, मर्त भोजनमद्य रासतेनः। ऋग्वेद 1.45.3

इन सभी वैदिक मन्त्रों में नयी पीढ़ी के लिए सन्देश है कि वे राष्ट्र व समाज के प्रति अपनी नैतिकता को तो दिखायें ही किन्तु स्वयं के विकास के प्रति भी चिन्तन करें।

प्रातः जागरण से सम्बन्धित मंत्रों के पढ़ने से हमें लाभ ज्ञान होंगे यह सब भी नैतिकता ही है। प्रसिद्ध स्मृतिग्रन्थ मनुस्मृति में भी समाज के लिए नैतिकता का सन्देश देने वाले अनेक मंत्र है जो कि आधुनिक समाज के लिए औषधितुल्य है।

मनुस्मृति में छात्र के लिए नैतिक मूल्य इस प्रकार बताये गये हैं।

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारितस्य वर्धन्तें आयुविद्या यशोबलम्॥

इसी प्रकार माता-पिता गुरूजन के प्रति आदर एवं सम्मान करना भी प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक दायित्व बताया गया है ।

यं माता-पिता क्लेशं सहते संभवे नृणामः।
न तस्य निष्कृतिः शक्याकर्तुं वर्षशतैरपिः॥ मनु - 2/227

इसी प्रकार आधुनिकीकरण में नैतिक मूल्यों की रक्षा करने में योग भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। जोकि भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही योग को भी जीवन का आवश्यक अंग माना गया है। हमारे ऋषियों विशेषरूप से महर्षि पतञ्जलि द्वारा हम भारतीयों को सांस्कृतिक धरोहर के रूप में योग का ज्ञान दिया गया।

आज के इस दौर में जब हम आधुनिकता की ओर बढ़ चुके हैं तब हमें आत्मिक शान्ति एवं नैतिक मूल्यों की प्रतिस्थापना हेतु पुनः योग की शरण में जाना होगा। क्योंकि योग के द्वारा नैतिकता का पालन, सच्चरित्रता, जीवन को जीने का ढंग स्वास्थ्य की रक्षा आदि गुणों को नई पीढी में विकसित किया जा सकता है। यदि स्कूली पाठ्यक्रम में भी योग प्रत्येक स्तर पर प्रारम्भ किया जाये तो विद्यार्थियों में नैतिक गुणों का समावेश स्वतः ही होता जायेगा। अतः आधुनिकीकरण के इस दौर में योग भी नैतिक मूल्यों की रक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

इन सभी ग्रन्थों में आधुनिक पीढ़ी के लिए नैतिक मूल्यों का पालन करने के लिए सन्देश दिया गया है क्योंकि वर्तमान समय में युवा पीढ़ी जो कि तकनीकी ज्ञान सम्पन्न तो है किन्तु मूल्य परक ज्ञान से रहित है यही चारित्रिक हनन का भी कारण है। आज की युवा पीढ़ी केवल स्वविकास एवं लाभ के सिद्धान्त पर कार्य कर रही है।

परिवारों में भी नैतिक मूल्यों का आभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। बुजुर्गों की उपेक्षनीय स्थिति है अतिथि सत्कार अदृश्य हो चुका है। हमारी महान परम्पराएँ लुप्त होकर पाश्चात्य संस्कृति घर-घर में प्रवेश कर चुकी है। समाज में वृद्धाश्रमों की संख्या बढती जा रही है जो कि हमारे देश की संस्कृति नही रही है।

आधुनिक होना कोई बुराई नहीं है किन्तु बुराई समाज में तब आती है जब आधुनिकता के कारण अपने मूल्य, सिद्धान्त, संस्कृति का स्वरूप का स्वरून बिगडने लगता है। अभी भी समाज में वेद, पुराण, स्मृति ग्रन्थ एवं महान विचारकों का अध्ययन एवं बातों का

प्रचार-प्रसार किया जाय तो सराकारात्मक परिवर्तन आ सकता है।

आधुनिक होना विकास की ओर अग्रसर होना है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में भी वैचारिक अन्तर रहता है। यही परिवर्तन है, यही आधुनिकता है, किन्तु हमें सुख समृद्धि युक्त जीवन जीने के लिए भौतिकता के घने जंगल से आध्यात्मिकता एवं नैतिकता के सपाट मैदान की ओर लौटना चाहिए। इसके लिए हमें अपने महान ऋषियों एवं मुनियों के अलौकिक एवं दिव्य जीवन संदेश को समझने की आवश्यकता है। नैतिक मूल्य, आध्यात्म के समान आधुनिकता कोई शाश्वत मूल्य नहीं है। आधुनिकता तो केवल समय के सापेक्ष चलने वाली है चाहे किसी भी समाज में कितने ही परिवर्तन हो जाये आधुनिकीकरण के कारण किन्तु हमारा दायित्व है कि अपने नैतिक मूल्यों का हाखस न होने देना, जो आधुनिकता नैतिक मूल्यों को भी साथ लेकर चलती है वही सार्थक है अतः वर्तमान समय में बच्चों में बाल्याकाल से ही शिक्षा के माध्यम से ऐसे गुण विकसित करने की आवश्यकता है जिससे उनमें ईमानदारी, सत्यता, विवेक, प्रलोभन से दूर रहना, पवित्रता आदि नैतिक मूल्यों का समावेश हो सके। क्योंकि यही आगे देश का भविष्य हैं ये ही आधुनिक होने के साथ-साथ नैतिक मूल्यों को भी संरक्षित रख सकने में सहायक हो सकते हैं।

प्रवक्ता संस्कृत
रा.बा.ई.का. देवप्रयाग, टिहरी गढवाल

✦✦✦

प्रकृति के परमोपासक "पंत" जी

-डॉ. संजय कुमार मिश्र

छायावाद के प्रमुख चार स्तम्भों में से एक सुमित्रानन्दन पंत जी का जन्म वर्तमान उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा जनपद के कौसानी ग्राम में सन् 1900 में पहाड़ी ब्राह्मण देवीदत्त पंत के घर हुआ। शैशव अवस्था में ही इनकी माता की मृत्यु हो गई और प्रकृति ही इनकी माता, सहचरी सब कुछ बन गई । प्रकृति का यह सुकुमार कवि छायावाद के सम्पूर्ण सौन्दर्य से ही नहीं अपितु सामाजिक चेतना एवम् प्रगतिवादी दृष्टिकोण से युक्त रचनाएँ कर अमर हो गया।

आदिकाल से लेकर आज तक मानव और प्रकृति का अटूट सम्बन्ध रहा है । मनुष्य किसी भी अवस्था में प्रकृति से दूर नहीं रह सकता। संसार का मानव, अनन्त आकाश, मेघ, वर्षा, नक्षत्र, ग्रीष्म, पशु पक्षी आदि से भाग कर कहाँ जा सकता है? प्रकृति अपने सौन्दर्य द्वारा मानव को आकर्षित करती है। उसी प्रकृति के मादक रुप पर हिन्दी के एकमात्र प्रकृति पुजारी कवि पंत अपना तन-मन हार चुके हैं। उनको प्रकृति सौन्दर्य के समक्ष नारी सौन्दर्य का आकर्षण भी तुच्छ प्रतीत होता है -

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया।
बाले! तेरे बाल जाल में,
कैसे उलझा दूँ लोचन।[1]

यही प्रकृति पंत जी के काव्य जगत को बहुरंगा बना देती है। प्रकृति की अमिट छाप पंत जी के हृदय और मस्तिष्क पर पूर्ण रूप से अंकित होती है। पंत जी की रचनाओं में प्रकृति ही अनेक रुप धारण कर चपल, मुखर, नूपुर बजाती हुई अपने चरण बढ़ाती रही है। पंत जी का समस्त काव्य-पट प्राकृतिक सौन्दर्य की धूप छाँह से बना हुआ है-

पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश,
मेखलाकार पर्वत अपार ।
अपने सहस्त्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार-बार ।
नीचे जल में निज महाकार,

जिसके चरणों में पड़ा ताल,
दर्पण-सा फैला है विशाल ।

पंत जी और प्रकृति का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार है जैसे एक मित्र का दूसरे मित्र से परस्पर होता है। कवि के प्रकृति प्रेम ने ही उनके हृदय में एक अज्ञात आकर्षण को जन्म दिया है। कवि ने प्रकृति से ही तादात्म्य स्थापित किया है। उसने अपनी समग्र भावनाएँ प्रकृति के माध्यम से व्यक्त की हैं।

समस्त प्राकृतिक चेतना मानो प्राणवती ही उठी है –

खोल सौरभ का मृदु कच जाल,
सूँघता होगा अनिल समोद,
चूम लघु पद चंचलता, प्राण।
फूटते होंगे नव जल स्त्रोत,
मुकुट बनती होगी मुस्कान,
प्रिये! प्राणों की प्राण।[1]

पंत जी ने प्रकृति की एक-एक वस्तु में चेतना का दर्शन किया है । उसने उसमें केवल शरीर को नहीं वरन मन को भी देखा है । प्रकृति का नारी रूप में चित्रित करना भी पंत जी नहीं भूले हैं। पंत जी ने स्वयं लिखा है – 'प्रकृति को मैंने अपने अलग सजीव सत्ता रखने वाली नारी के रूप में देखा है –

कहो तुम रूपसि कौन?
व्योम से उतर रही चुपचाप,
छिपी निज छाया छवि में आप,
सुनहला फैला केश कलाप,
मधु मंथर, मृदु मौन।[1]

प्रकृति वर्णन में पंत जी बड़े सिद्धहस्त कलाकार हैं। पर्वतीय प्रकृति के शताधिक सुन्दर चित्र उनके काव्य में भर पड़े हैं –

शान्त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल।
अपलक अनन्त, नीरव भूतल।
सैकत शय्या पर, दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है शान्त, क्लान्त निश्चल।

तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल, लहरें उर पर कोमल कुन्तल।[2]

पंत जी के काव्य में कल्पना के सूत्र के सहारे नक्षत्रों से लेकर सागर की गहराइयों तक की भावमुक्ता उपलब्ध है। पंत जी प्रकृति के उपासक और चित्रकार हैं। वे प्रकृति को

देवी, माँ, सहचरी एवम् प्रियतमा बनाकर सम्बोधित करते हैं । इसके फलस्वरुप कवि का तादात्म्य इतना बढ़ जाता है कि वह प्रकृति को प्राणमयी सत्ता बना देते हैं । प्रतीक विधान आधुनिक कविता की एक प्रमुख विशेषता है, जो हमारा सारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है –

किसी के डर में तुम अनजान
कभी बँध जाती बन चितचोर,
अधखिले-खिले-सुकोमल गान,
गूँथती हो फिर उड़-उड़ मोर।

प्राकृतिक वस्तुओं के रुप, रंग, ध्वनि, गंघ, गति का पंत जी को पूर्ण ज्ञान है और यथारूप चित्रण उनके प्रकृति काव्य की विशेषता है –

बन के बिटपों की डाल-डाल,
कोमल कलियों की लाल-लाल
फैली नव मधु की रूप ज्वाल,
गति ज्ञान झूम-झूम, झुक-झुक कर।
भीम नीम तरू निर्झर,
सिहर-सिहर, थर-थर-थर
करता सर सर,
चर मर।

इस प्रकार निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि पंत जी के काव्य में प्रकृति-सौन्दर्य का नाना रंग उद्घाटित हुआ है। इन चित्रणों में प्रकृति के कोमल एवम् आनुरंजनकारी स्वरूप की ही प्रधानता है। पंत जी के सम्पूर्ण काव्य में प्रकृति का स्थान अप्रतिम है। पंत जी ने प्रकृति के सूक्ष्म स्पन्दनों की धड़कन सुनी हैं और छायावाद तथा आध्यात्म चिन्तन के मोह से झलमल छाया प्रकाश का साभ्रम अपनी काव्य-कृतियों में उत्पन्न किया है।

1. वीणा – सुमित्रानन्दन पंत
1. गुंजन-सुमित्रानन्दन पंत
1. सन्ध्या और चाँदनी – सुमित्रानन्दन पंत
2. 'नौका बिहार' – सुमित्रानन्दन पंत

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानितविश्वविद्यालय)
श्री रणवीर परिसर, जम्मू

✦✦✦

नरेश मेहता के काव्य में रस सिद्धान्त का अनुशीलन

- डॉ. शशि बाला रावत

रस सिद्धान्त में एक और काव्य में, भावों में एवं मनोवेगों के चित्रण की बात है, तो दूसरी और काव्य के अस्वादन का विवेचन है। रस अपने संकुचित अर्थ में भावों और मनोवेगों के चित्रण तक सीमित रहता है। तथा अपने व्यापक अर्थ में वह काव्य के आस्वादन के योग्य बन जाता है। अत: रस के इसी व्यापक अर्थ में 'रस सिद्धान्त' समग्र काव्य को को अपनी परिधि में समेटने का प्रयास किया है। काव्य अपनी रोचकता अथवा रमणीयता या मन को रमाने की शक्ति के कारण ही अस्वाद्य होता हैं परिदर्शक (श्रोता, पाठक या दर्शक) जब काव्यानुभूति में तल्लीन होकर अपनी उसी अनुभूति को सत्य मनाने लगता है। उस समय काव्य के परिदर्शन में उसमें लगभग वही प्रतिक्रिया होने लगती है, जो वास्तविक जीवन में वैसे ही दृश्य या प्रसंग को देख या सुनकर प्रकट की जाती हैं। यह प्रतिक्रिया सुखात्मक भी हों सकती है और दु:खात्मक भी।

भरतमुनि ने 'रस' शब्द की व्याख्या करते हुये कहा है कि 'रस्यते इति रस:' अर्थात जो चखा जाय या जिसका आस्वादन किया जाय वही रस कहलाता है।

भट्टनायक का साधारणीकरण सिद्धान्त कपोल-कल्पना मात्र है, अत: वास्तविक काव्यानुभूति से उसका कोई संबंध नहीं होता है। काव्यानुभूति सर्वथा आनन्दमयी न होकर कभी-कभी उद्वेगकरी एवं दुखात्मक भी होती है। अत: उसे "ब्रहमानंद सहोदर" नहीं कहा जा सकता। हृदय की सघन और निर्बाध अनुभूति जब शब्दों के घूघँरू बाँधकर स्वर ताल के यौवन के साथ झूम उठती है तो उसे मानकर मानव-मन कविता की संज्ञा देता है। सहृदय के इसी मानसिक आनन्द को रस कहा जाता है। प्राचीन आचार्यो भरतमुनि 'नहिं रसादृतें कश्चिदव्यर्थ: प्रवर्न्तते' कहकर काव्य में रस की उपरिहार्य स्थिति को व्यक्त किया है। अग्नि पुराणकर ने वाक्वैरदग्ध्या कथा में अति रस जीवातम् द्वारा उसको प्राणवत्ता को प्रमाणित किया है। तथा राजेश्वर ने रस को काव्यात्मा के रूप में प्रतिष्ठित करके रस को प्रतिपादित किया है।

वस्तुत: सहृदय पाठक अथवा प्रेक्षक आत्मानन्द हेतु ही काव्य पढ़ता या नाटक देखता है और यह प्रधान तत्व कथ्य को रसात्मकता पर आधारित होता हैं। यद्यपि अन्य सिद्धान्तों का भी काव्य पर प्राय: प्रभाव पड़ता है। किन्तु यह समस्त तत्व वाहय् आवरण की भाँति हैं रस काव्य के अन्तरमन से संबंध रखता है। जीवन में परम् आनन्द की खोज करने वाले

भारतीय दार्शनिकों की भाँति काव्य में भी आनन्द की गवेषणा की गई है। अत: रस सिद्धान्त इसी गवेषणा के परिणामस्वरूप प्राप्त हुआ है। यह एक अपूर्ण सिद्धान्त है। नरेश मेहता की समस्त रचनाओं को रस सिद्धान्त के निकर्ष पर परखा गया है। अत: कवि की रचनायें व्यक्तित्व-कृतित्व की व्यंजना करती है। उसके हृदय की प्रत्येक धड़कन उसकी भावनाओं का प्रत्येक स्पन्दन साहित्य-सर्जना के रूप में प्रकट हुआ है। नरेश मेहता की प्रत्येक पंक्ति सहृदय के आनन्द को अलौकिक धरातल पर ले जाती है। चाहे वह राष्ट्रीय भावना हो या श्रृंगारी अनुभूति पाठक रस मग्न स्थिति से उसका आस्वादन करता है।

भारतीय साहित्यशास्त्र के पुनर्व्याख्याकार डा. नगेन्द्र की साहित्य-साधना का उत्तमांश 'रस सिद्धान्त' नामक पुस्तक में प्राप्त हैं। उन्होनें स्वंय स्वीकार किया है - कि "मेरी साध भी कि मैं अपनी साहित्य-साधना का उत्तमांश ही आपकों अर्पित करूँ एवं पिछलें तीन वर्षो में काव्य में मनन और चिन्तन से मेरे मन में जो अन्त: संस्कार बनते रहे हैं। उनकी संहति रस सिद्धान्त में ही हो सकती है।" बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में रस ध्वनि, अलंकार आदि भारतीय सिद्धान्तों का समूल उच्छेदन करने के लिए नवमतवादी एवं प्रगतिवादी आलोचक सप्रयास संलग्न थे। डॉ. नगेन्द्र का मत है- 'कि इस शब्द के शास्त्रीय अर्थ का आविर्भाव कामसूत्र से हुआ है। वात्स्यायन के नाम में प्रचलित कामसूत्र का जो प्रसिद्ध संस्करण जय-मंगला टीका के साथ मिलता है। उसमें 'रस' शब्द का प्रयोग रति, कामशक्ति अर्थ में प्राय: हुआ है। रस की शास्त्रीय परम्परा भरतकृत नाट्यशास्त्र से पूर्व थी वात्स्यायन के कामसूत्र में विद्यामान थी। उसमें शास्त्रीय अर्थ में 'रस' शब्द का प्रयोग हुआ है। उसमें श्रृंगार रस के परिपाक के समस्त उपकरण निर्भान्त रूप में मिलते है। भरत, अभिनव आदि ने भी परिपाक के समस्त उपकरण निर्भान्त के अन्तर्गत माना है। डॉ. नगेन्द्र ने 'रस-सिद्धान्त' के प्राचीन भारतीय-भाषाओं के आधार पर रस के स्वरूप का निर्धारण किया है। नाट्यशास्त्र भरत की परिभाषा से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक की परिभाषाओं का अवलेकन करते हुए उसमें आगत क्रमिक परिवर्तन के आधार पर रस के द्विविध स्वरूप की विवेचना की है। विषयगत अर्थात भाव कलात्मक अभिव्यंजना रस नहीं है। काव्य-सौन्दर्य एवं विषयिगत अर्थात उक्त काव्य-सौन्दर्य का अस्वाद।'' उन्होनें रस-निष्पति के संबंध में अभिनव गुप्त के सिद्धान्त को ही स्वीकार किया है। उनका कथन है कि अभिनव गुप्त के मत की सबसे बड़ी शक्ति यह है कि उसका दार्शनिक आधार बहुत गम्भीर एवं प्रामाणिक हैं। अभिनव गुप्त ने ही सर्वप्रथम रस के एकान्त सहृयनिष्ठ रूप में प्रतिष्ठा की। अतएव काव्य का अथवा नाटक अस्तित्व सहृदय अथवा सामाजिक के आनन्द के लिए है। इसे लगभग सभी आचार्यो ने स्वीकार किया है।

नरेन्द्र जी का मत है कि "विभावनुभावव्यभिचारि संयोगाद्ररसनिष्पत्ति:" विभावरति, करुणा आदि भावों के कारण-आलम्बन एवं उद्दीपन-अनुभव-भावानुभूति के अनुकर्म या उसके व्यक्त प्रभाव, व्याभिचारि-अस्थायी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से संयुक्त रुप में साक्षात्कार करके दर्शन के

मन में एक उत्कट आनन्दमयी भावना का संचार होता है। यही रस या काव्यानन्द है। रति, हास, क्रोध, भय, घृणा (जुगुप्सा) औत्सुक्य-वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य सहानुभूति (संगेच्छा) आदि इनमें सात तो संस्कृति स्थायी भाव से प्रायः अभिन्न ही है। अतः डॉ. नरेन्द्र ने स्थायीभाव और संचारीभावों को 'भाव' के अन्तर्गत ही समाहित करके उनका विवेचन किया है। तथा रस के स्वरुप का स्पष्टीकरण, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया है। भारतीय रसशास्त्र में प्रतिदिन स्थायीभाव एवं संचारी-भाव का विवेचन पाश्चात्य प्राचीन तथा अर्वाचीन मनोवैज्ञानिक की मनोविकास संबंधी धारणाओं को पार्श्व में रखकर किया है।

डॉ. नगेन्द्र ने अलंकार सिद्धान्त का ऐतिहासिक विकास क्रम उपस्थित करते हुए कहा हैं- "अंलकार की परम्परा भी परम्परा भी रस की तरह एक क्रमिक-विकास का ही परिणाम हो सकती है। डॉ. नगेन्द्र का मत है कि भामह की अपेक्षा दण्डी ने स्पष्ट शब्दों में अलंकार को काव्य का शोभाकार शाश्वत धर्म माना है और कई बातों में उदार भी है। दण्डी जहाँ एक ओर भामह द्वारा स्वीकृत अनेक अलंकारों को कोई उल्लेख नहीं करते, वही दूसरी ओर उनके द्वारा अमान्य अलंकारों- सूक्ष्म, लेश, हेतु-को अलंकार घोषित भी करते है। अलंकार एवं अलकार्य के पार्थक्या-अपार्थक्या सम्बन्धी विवाद को डॉ. नगेन्द्र ने सम्पूर्ण पौरस्त्य-पाश्चात्य, प्राचीन तथा अर्वाचीन की विस्तृत पीठिका पर उठाकर उसका तुलनात्मक विश्लेषण किया है, और इन तर्क-विर्तकों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचें हैं कि अलंकार ओर अलंकार्य के भेदाभेद का प्रश्न प्रत्यक्ष रूप से वाणी अर्थ के भेदाभेद से सम्बद्ध है। डॉ. नगेन्द्र ने नीति सम्प्रदाय एवं उसके स्वरूप का विवेचन रीतिकाव्य की भूमिका में किया है। "काव्य शोभाकार शब्द और अर्थ के धर्मो से युक्त पद रचना रीति हैं। उन्होनें वामन को रीति-सम्प्रदाय का प्रर्वतन आचार्य माना है- प्रसिद्ध ओर परिपुष्ट स्थापनाओं के आधार पर यह स्वीकार किया गया है - कि रीति शब्द के प्रथम प्रयोक्ता, लक्षणकर्ता और रीति सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य वामन ही हैं। डॉ. नगेन्द्र ने रीति-सम्प्रदाय का सम्यक् परीक्षण न केवल देहवादी और आत्मवादी भारतीय साहित्य शास्त्रियों के संदर्भ में ही किया है।"

काव्य शास्त्रीय क्षेत्र में जितना समादार रस को मिला उतना किसी अन्य काव्य-तत्व को नहीं। भरत को रस तत्व का प्रवर्तक माना गया हैं। भामह, दण्डी और उद्‌भट ने यद्यपि रस, भाव आदि को रसवद् आदि अलंकार नाम से अभिहित किया, तथापि उन्होनें अपने दृष्टिकोण से इसे समुचित समादार भी प्रदान किया हैं। रूद्रट जो एक ओर अलंकार-सिद्धान्त से और दूसरी और ध्वनि-सिद्धान्त से प्रभावित है। रस को मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया। भामह और दण्डी के समाज इन्होनें भी इस को महाकाव्य के लिए आवश्यक तत्व माना जाता है। भरतमुनि ने अपने प्रसिद्ध रस-सूत्र "विभाननुभावत्यभिचारी संयोगद्रसनिष्पत्ति" में रस विषयक धारण व्यक्त की हैं। जब विभाव, अनुभाव, और व्याभिचारी भाव का संयोग होता है तब रस की निष्पत्ति होती हैं। जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनो, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार गुणदि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से षाडवादि रस बनते है। तथा विविध भावों से संयोंग से स्थायी-भाव भी रस स्वरूप को

प्राप्त होते हैं। भरत ने अपने "नाट्यशास्त्र" में आठ-प्रकार के रस माने हैं- श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्‌भूत। धनन्जय तथा भरत ने 'शान्त' रस को पूर्णतः अमान्य कर दिया था।

हिन्दी विभाग, बिड़ला परिसर श्रीनगर
पौड़ी (गढ़वाल) उत्तराखण्ड

संदर्भ ग्रन्थ

1. रस सिद्धान्त और छायावादोत्तर हिन्दी कविता, डॉ. ऋषि कुमार चतुर्वेदी।
2. रस सिद्धान्त- डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ-8
3. हिन्दी ध्वन्यालोक की भूमिका - डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ-37
4. रीतिकाव्य की भूमिका - डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ-331

1. रस सिद्धान्त और छायावादो

✦✦✦

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में नाट्य-कला

-डॉ. सावित्री रावत

संस्कृत भारत की मूल भाषा है जिसका 'देववाणी' दूसरा नाम अति प्राचीनता का द्योतक है भारत के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आध्यात्मिक और राजनीतिक जीवन की पूरी व्याख्या संस्कृत भाषा के वाङ्मय में समाविष्ट है, वेदों के अति गम्भीर एवं रहस्यमय ज्ञान से लेकर सामान्य जनजीवन के मनोविनोद से संबंधित पंचतन्त्र की कथाओं तक जितना भी साहित्य वैभव विद्यमान है वे सब संस्कृत-भाषा में ही सुरक्षित है। संस्कृत साहित्य में काव्य शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, संस्कृत साहित्य को दो भागों में विभाजित किया है, 1. दृश्य काव्य 2. श्रव्य काव्य।

संस्कृत-साहित्य में नाटकों की अपनी एक विशिष्ट परम्परा रही है भारतीय साहित्य की विभिन्न विचार-वीथियों में लोकप्रियता की दृष्टि से नाटकों का पहला स्थान है, वैदिक साहित्य का प्राचीनतम वेद ऋग्वेद में नृत्यकला पर्याप्त प्रकाश में आ प्रतीत होती है पुरूश्वा-उर्वशी, यम-यमी इन्द्र-इन्द्राणि आदि संवाद प्रसंगों में नाट्यकला के बीज यथेष्ट रूप से मिलते है।[1] इस प्रकार संवादात्मक सूक्ति के आधार पर भारतीय नाट्यकला की उत्पत्ति वैदिक युग में सिद्ध की है। नाटक के सम्बन्ध में यजुर्वेद की वाजसनेयि संहिता के एक प्रसंग से अवगत होता है कि वैदिक युग में एक शैलूष नामक जाति के लोग व्यावसायिक रूप से नाटकों का आयोजन कर जीवकोपार्जन किया करते थे यज्ञ के अवसरों पर, नृत्य-गीतादि के लिए सूत और शैलूष लोगों की नियुक्ति की जाती थी जो कि नृत्य एवं संगीत द्वारा नाट्यभिनय करते थे। रामायण-काल में अयोध्या नगरी में नाटक-मण्डलियाँ प्रभूत ख्याति अर्जित कर चुकी थी कुशीलव (नट-नर्तक) लोगों का उस समय काफी प्रचार हो चुका था पाणिनि की अष्टध्यायी मे हमें भिक्षुसूत्रों और नटसूत्रों प्रणेता पाराशर्य शिलालि तथा कृशव नामक दो प्राचीन आचार्यो के नाम देखने को मिलता है रामायण तथा अष्टध्यायी के बाद महाभारत में नाटकों के शिल्प सम्बन्धी विधानों का अधिक स्पष्टीकरण मिलता है। इसमें रामायण नाटक तथा कौबेर-रंभाभिसार नामक दो नाटकों का नाम मिलता है। इस प्रकार पंतजलि के महाभाष्य में हमें नाट्य-कृतियों का निर्देश मिलता है जिनका नाम कंसवध तथा बलिवध। महाभारत में हरिवंश एक अंश है। इस अंश में प्रद्युम्न-विवाह-प्रसंग में निर्देश किया गया है वसुदेव जी के अश्वमेघ यज्ञ के अवसर पर भद्र नामक एक नट ने अपने आकर्षक नाट्य-प्रदर्शन से उपस्थित ऋषि-महर्षि को प्रसन्न किया था इस प्रकार महाभारत में नट नर्तक गायक, सूत्रधार आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। "कीथ के मतानुसार संस्कृत

के नाटकों की प्राचीनतम् ईशवी पूर्व दूसरी शताब्दी के लगभग बैठती है। उनके अनुसार – पतंजलि के समय तक नट केवल नर्तक ही नहीं रह गये थे वरन् वे संगीतज्ञ भी हो गये थे और संगीत तथा अभिनय द्वारा नाटकों का सफल प्रदर्शन भी करने लग गये थे अर्थशास्त्र में भी यह जानने को मिलता है कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वाहक, प्लवक आदि अपना जीविकापार्जन के लिए नाटक किया करते थे।[2] इसलिए यह सत्य है कि संस्कृत साहित्य में नाटकों के निर्माण की परम्परा बहुत पुरानी है और आदिकाल से ही भारतीय जन-जीवन के मनोरंजन के लिए नाटकों को श्रेष्ठ माध्यम के रूप से अपनाया जाता है। भारतीय नाट्य, नृत्य, संगीत, विद्या तथा काव्यशास्त्र के प्रथम पुरोधा भरत है। जिन्होनें आज से सदियों पूर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और जातीय जीवन की एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से सजीव रूप दिया आचार्य भरत द्वारा विरचित 36 अध्यायों में विभक्त नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्क विघा का विशालवाङ्मय है। भरत के नाट्य-सिद्धान्तों में मौलिकता तथा व्यापकता के ऐसे बीज है जिनकी शाश्वती स्थिति आज भी नाट्य रचना में सफलतापूर्वक देखी जा सकती है भरत मुनि प्रणीत नाट्यशास्त्र किया जिनमें काव्य नाट्क, संगीत, नृत्य जैसी सुकुमार ललित कलाओं के द्वारा मानव के शाश्वत जीवन की कल्पना की गई थी "भरत ने नाटक को पंचम वेद माना है जिसमें समस्त रंगमचीय कृत्यों को नाट्य में सम्मिलित किया है आचार्य भरत के अनुसार न कोई ज्ञान है, न कोई शिल्प है, न विद्या या कोई कला है, और न ऐसा कोई योग या कर्म है जो इस नाट्य में दिखाई न देता है।[3] भरत मुनि का कहना है सार्वजनिक मनोरंजन एवं नानाविध भावनाओं का द्योतन नाटकों से तो होता ही है साथ ही उसमें अपने युग के ऐतिहासिक ज्ञान का भी समावेश रहता है, यही कारण है कि नाटकं भिन्नरूचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् महाकवि कालिदास ने भी नाटक को उस पुनीत संगम की भाँति माना है।

संस्कृत साहित्य में नाटकों की व्यवस्थित परम्परा का अनुवर्तन भास से होता है। "भास के नाटको को प्राप्त कर उन्हें प्रकाश में लाने का श्रेय स्व श्री टी. गणपति शास्त्री को है, उन्होने 1909 में भास के 13 नाटकों को खोज कर उन्हें "त्रयोदश त्रिवेंद्रम नाटकानि" नाम से प्रकाशित किया था"।[4] भास की स्थितिकाल चौथी या पाँचवी शताब्दी से शुरू हुई, 13 रचनाओं के बाद इन्होंने वीणा वासवदत्ता और यज्ञफलम दो नाटक कृतियों की रचना की। भास के बाद कालिदास का स्थान आता है विश्व के साहित्याकाश में कालिदास की भारती आज भी उर्वर मस्तिष्क भारतीयों का व्यक्तित्व दैदीप्यमान कर रही है। नाटक के क्षेत्र में कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञान शाकुन्तल' इन तीन कृतियों का प्रणयन किया है।[5] अभिज्ञान शाकुन्तल कालिदास का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण साहित्य का उदीयमान रत्न है जिसमें प्रेम और सौन्दर्य जैसा सरस, हृदयग्राही एव मर्मान्तर चित्रण चित्रित किया है। संस्कृत साहित्य की अमर विभूतियों में शूद्रक जिन्होंने पद्यप्राभृटक तथा मृच्छकटिक नाटक की रचना की है, जिसमें समाज का सजीव चित्रण किया गया है। भवभूति ने भी तीन नाटकों की रचना की महावीर चरित, मालती-माधव और उतर रामचरित

अन्तिम कृति इनकी सर्वश्रेठ है। विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस अपना प्रथम स्थान रखता है। वेणी-संहार प्रणेता भट्ट नारायण की विद्वत्ता भी उल्लेखनीय है।[6] इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के अमर नाटककार महामात्य वत्सराज ही ऐसे नाटककार हुए जिन्होने भास की भाँति अनेक नाटक लिखे तेरहवीं शताब्दी में जय सिंह, चौदहवीं शताब्दी में वेंकटनाथ, वामन, बाणभट्ट तथा सोलहवीं शताब्दी के विचित्र कर्णपूर और जगदीश आदि के नाटकों की गणना की जा सकती है। संस्कृत नाटकों की उपयोगिता का एक कारण यह भी है कि उनमें जनभावना की प्रधानता है, अधिक से अधिक ख्याति अर्जित करने के लिए संस्कृत नाटकों में जनरूचि को स्थान दिया गया हआचार्य वामन द्वारा कथा, आख्यायिका, महाकाव्य काव्य आदि के पठन-पाठन से वास्ताविक आनन्द की अनुभूति तभी सम्भव है जब पाठक के समक्ष कथा, आख्यायिका आदि के पात्र नाटक के सजीव पात्रों की भाँति अभिनय करते हुए दृष्टिगत होते हैं, तभी काव्यरस की वास्तविक उपलब्धि संभव है'।[7] इस प्रकार संस्कृत के नाटक साहित्य का आद्योपांत अनुशीलन करने के उपरान्त प्रतीत होता है कि उसका वृहद भांडाकार अमूल्य निधियों से भरपूर है। संस्कृत का एक-एक नाटक रत्न भारतीय साहित्य की अमर धरोहर है। कुछ नाटक इतने प्रभावोत्पादक सिद्ध हुए कि विश्व की समस्त समुन्नत भाषाओं में उनका अनुवाद तक हो चुका है। जन सामान्य की अन्त:वृत्तियों को स्पर्श करने में संस्कृत के नाटककारों की अपनी मौलिक विशेषता रही है। इस प्रकार संस्कृत के नाटक इस सत्य के द्योतक हैं कि भारत का अतीत व्यक्तित्व कितना प्रभावमय तथा प्रतिभा सम्पन्न रहा है।

इसी प्रकार हिन्दी साहित्य में नाट्य कला पर विचार करते हुए जो सबसे पहली बात ध्यान में आती है वह है नाटकों का अभाव। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पूर्व सब मिलाकर हिन्दी में एक दर्जन नाटक भी न मिलेगें और वे भी केवल नाम मात्र के नाटक थे क्योंकि वार्तालाप, प्रवेश और प्रस्थान के अतिरिक्त उनमें नाटक के प्रधान लक्षण नहीं दिखलाई पड़ते। संस्कृत में नाट्य साहित्य बहुत ही समृद्ध हैं फिर भी हिन्दी में नाटकों की रचना ज्यादा नहीं हुई कुछ विद्वानों ने इसके अनेक कारण बताए हैं कुछ का मत है कि हमारे यहाँ राष्ट्रीय रंगमंच न था अन्य लोग यह मानते हैं कि इस्लाम के सिद्धान्तों के अनुसार किसी की नकल उतारना पाप माना गया हैं, मुगल शासन में हिन्दुओं ने कितने ही मंदिर और राजप्रासाद निर्मित किए यदि वे चाहते तो रंगमंच का भी निर्माण निर्विरोध कर सकते थे हिन्दी का प्रथम रंगमंचीय नाटक 'इन्दरसभा' एक मुसलमान शासक की अभिभावकता में ही एक मुसलमान द्वारा लिखा गया था इससे प्रमाणित होता है कि नाटकों का अभाव के मुख्य कारण इन से भिन्न हैं, बाद में साहित्य में संत-साहित्य की अवतरणा हुई और धर्म-क्षेत्र में गोरख पंथ, कबीर पंथ, दादू पंथ और नानक पंथ इत्यादि अनेक पंथ का उदय हुआ नामदेव, कबीर, दादू नानक सभी ने एक स्वर में स्वीकार किया कि इस संसार में केवल दुख ही दुख है, संत कवियों यने अपनी बानी में इसी दुखवाद की घोषणा की, परन्तु जनता को दुखों से सघर्ष कर उन पर विजय पाने की शिक्षा न यदी इसके विपरीत उन्होने संसार त्याग कर ईश्वर भजन करने को कहा जैसे "मलूक दास ने शिक्षा दी अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम, दास मलूका

कह गए सब के दाता राम। जीवन के प्रति किसी में कुछ उत्साह भी न था नाटक प्रगतिशील जीवन का चित्र है अजगर की भाँति व्यतीत करने वालों के जीवन का चित्र नहीं है। ऐसी परिस्थति में नाटकों की आशा ही क्या की जा सकती है?"[8] आधुनिक खोज से पता चलता है कि रीतिकाल में कई नाटक लिखे गये थे परन्तु वे अभिनय के योग्य नहीं थे अत: उनका प्रचार भी नहीं हुआ और वे काल के गर्भ में विलिन हो गए।

इस प्रकार नाटकों का विकास राजा लक्ष्मण सिहं के 'शकुन्तला' नाटक के अनुवाद से प्रारम्भ हुआ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मुद्रण-यंत्र के प्रचार के साथ ही साथ अनके पुस्तकें प्रकाशित हुई साहित्यिकों ने प्राचीन साहित्य संस्कृत की सभी सुन्दर रचनाएं प्रकाशित की और साथ ही साथ पाश्चात्य साहित्य के ग्रन्थरत्नों का अध्ययन भी आरम्भ हो गया इस प्रकार शिक्षा के प्रसार और साहित्य ज्ञान की वृद्धि से हमारी मानसिक उन्नति हुई और हमने समझा कि सभ्यता के पूर्ण विकास के लिए नाटकों की रचना अत्यन्त आवश्यक है। इसी समय संस्कृत के काव्य और नाटक अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन इत्यादि भाषाओं में अनुवादित हुए और उनका आदर भी बहुत हुआ "राजा लक्ष्मण द्वारा अनुवादित शकुन्तला के बाद भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र ने नहुष 'नाटक' लिखा जिसे भारतेन्दु ने हिन्दी का सर्वप्रथम नाटक माना स्वयं भारतेन्दु ने भी कई नाटक लिखे हरिश्चन्द्र के समकालीन लाला निवासदास, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, तोताराम, अंबिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, बदरीनारायण चौधरी, प्रेमधन इत्यादि लेखकों ने हरिश्चन्द्र की नाट्य-परंपरा के अनुसार अनेक मौलिक नाटकों की सृष्टि की"[9] जिससे हिन्दी में नाटकों की एक बाढ़ सी आ गई इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में नाटकों का प्रारम्भ बहुत देर में हुआ परन्तु जब हुआ तब उसका विकास बहुत शीघ्रता के साथ हुआ नाटक की शीघ्र प्रगति का कारण यह है कि हमारे यहाँ नाटक-परंपरा बहुत समय से ही चली आ रही थी, गांव-गांव में रामलीला, रासलीला, नौटकी, स्वांग और नकल का प्रचार था जनता को नाटक बहुत प्रिय थे इसी कारण एक बार नाटकों का प्रारंभ हो जाने के पश्चात् उनका विकास और उन्नति अबाध गति से होती रही। हिन्दू जनता ने धार्मिक भावना तथा वीर-पूजा की भावना से प्रेरित होकर कुछ धार्मिक और लौकिक लीलाओं का प्रारंभ किया परन्तु क्रमश: उनमें नाट्य-कला के बीज अंकुरित होने लगें ऐसा होना अनिवार्य भी था क्योंकि जनता धार्मिक भावना की संतुष्टि के साथ ही साथ अपना मनोरंजन भी चाहती थी। इन नाटकों में जनता को आकर्षित करने के लिए नृत्य और संगीत का प्रवेश हुआ इस प्रकार नाटक का मुख्य उद्देश्य रसात्मकता है, "भारतेन्दु का विख्यात नाटिका 'श्री चन्द्रावली' रासलीला के प्रभाव से विशेष प्रभावित है, और बीसवीं शताब्दी में वियोगी हरि ने "श्री छद्मयोगिनी नाटिका'' लिखकर उसी रासलीला का अनुकरण उपस्थित किया"[10] संस्कृत से कई ग्रन्थों में अनुवाद के बाद मौलिक विस्मृत सी हो गई थी "1912 में कुरूवनदह प्रकाशित हुआ जो कि संस्कृत नाटक वेणी संहार का रूपान्तर है। जिसमें नवीन नाट्य-कला के अंकुर थे हरिश्चन्द्र के नाटकों में नील देवी में कथानक का सौन्दर्य मिलता है, भारत जननी में संगीत, श्री चन्द्रवली में इसका अबाध प्रवाह सत्यहरिश्चन्द्र

में चरित्रों का सुन्दर चित्रण और अंधेर नगरी में हास्य की बाढ़। इसमें हिन्दी नाट्यकला का महत्त्वपूर्ण विकास हुआ। नाट्यकला का एक ओर महत्त्वपूर्ण विकास माधव शुक्ल रचित महाभारत में मिलता है। इस नाटक में सभ्य और सुसंस्कृत इत्यादि अपनी बोलियों में वार्तालाप करते हैं मिश्रबंधु ने 'नेत्रोन्मीलन' नाटक में भी इस पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है। इसके पश्चात माखन लाल चतुर्वेदी के कृष्णार्जुन-युद्ध और बदरीनाथ भट के दुर्गावती नाटक में हिन्दी नाटक कला का सुन्दर रूप मिलता है"[11] दोनों में कथानक का सौन्दर्य, हास्यपूर्ण दृश्यों की सुन्दर अवतरण हुई इसमें रसात्मकता और कवित्व के साथ चरित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी सुन्दर है, जो अभिनय के योग्य है, तत्पश्चात जयशंकर प्रसाद ने आदर्शवादी नाटकों की परम्परा चलाई इस परम्परा में नाटकों की भाषा शैली बहुत ही कवित्वपूर्ण, गद्य गीतों के समान छायावादी ढंग के रहस्यपूर्ण और कलापूर्ण हैं। चरित्र सभी स्वछन्द आदर्शवादी तथा कवि दार्शनिक के समान हैं। नाटकों का वातावरण बहुत ही स्वछन्द और कवित्वपूर्ण है, प्रसाद के सभी नाटकों का आधार सांस्कृतिक है, आर्य संस्कृति में उन्हे गहन आस्था थी वे प्राचीन भारतीय संस्कृति के सौन्दर्य पर मुग्ध थे उनके नाटक चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, धुव्रस्वामिनी, एक घूंट, जनमेजय का नागयज्ञ, अजातशत्रु आदि नाटक प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार का हिन्दी नाट्य साहित्य तीन धाराओं में होकर बढ़ा है चाहे वह पारसी, थियटर से नाटक-मडलियाँ या कम्पनियाँ जिनका मुख्य ध्येय जनता का मनोरंजन करना था लेकिन नाट्यकला क विकास की ओर उनका ध्यान न था दूसरी धारा उन साहित्यिक नाटकों की थी जिनका अप्रत्यक्ष रूप से पारसी नाटकों से घृणा करते थे फिर भी वे उनके प्रभाव से बच न सके तीसरी धारा उन शुद्ध साहित्यिक नाटकों की थी जो जनता की रूचि की बिल्कुल उपेक्षा करते रहे उनका ध्यान सर्वदा कला की ओर ही रहा ये अध्ययन योग्य है, रंगमंच पर अभिनय योग्य नहीं। इन तीन धाराओं में रहते हुए भी हिन्दी में वास्तविक में नाट्यकला वह नाट्यकला है जिनमें रंगमचीय नाटकों के मंनोरंजन, उत्सुकता और आनन्द तथा साहित्यिक नाटको के कवित्व और प्रभावशाली चरित्र-चित्रण दोनों का सुन्दर सम्मिश्रण और सामंजस्य हो।

भारत वर्ष में जहाँ नाटकों की संधि, रस, चरित्र आदि के सम्बन्ध में इतने अधिक विस्तार से लिखा गया वहाँ रंगमंच के सम्बन्ध में बहुत कम लिखा गया इसका कारण यही है कि शायद हमारे यहाँ लोकप्रिय रंगमच था ही नहीं। नाटकों का अभिनय राजप्रासादों अथवा मन्दिरों में हुआ करता था और वह भी विशेष पर्वों तथा उत्सवों पर। वैज्ञानिक रंगमंच हमें पारसी कम्पनियों ने दिया जिन्होंने शेक्सपियर के युग के अंग्रेजी रंगमंच के आधार पर भारतीय वातावरण और परिस्थिति के अनुकूल एक रंगमंच की व्यवस्था थी क्लब, नाटक-मंडली और अन्य नाटक खेलने वालों ने भी पारसी कंपनी का रंगमंच लिया और उसी को सरल मानकर अपना काम निकालने लगें अभिनय तथा रंगमंच के प्रति लोगों में विचार अच्छे न थे पढ़े लिखे शिक्षित और सभ्य लोग नाटकों से अभिनय में भाग नहीं लेते थे अशिक्षित तथा निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा अभिनय उच्चकोटि का नहीं हो पाता था। पुरूषों,

बालकों को स्त्री पात्र का अभिनय करना पड़ता था किन्तु वे भी उस कार्य को ठीक से नहीं कर पाते थे इसलिए स्त्रियों को कला के विकास में उन्हें कोई अवसर नहीं दिया जाता था रंगमंचीय कला स्त्रियों की कला है। सारा बर्नहार्ट के द्वारा – नाटक कला एक कामिनी–कला सी प्रतीत होगी इसमें वे सभी साधन सम्मिलित है जो नारी–क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं, इसलिए जब तक भारत में स्त्रियाँ अशिक्षित और परमुखापेक्षी रहेगी, जब तक उन्हें समानाधिकार न मिलेगा, जब तक कामिनी–कला का समुचित विकास न होगा, तब तक रंगमंचीय कला की पूर्ण उन्नति संभव नहीं है।

सन्दर्भ सूची

1. संस्कृत साहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला – पृ.सं. 671
2. संस्कृत साहित का इतिहास – वाचस्पति गैरोला – पृ.सं. 674
3. नाट्यशास्त्र में निरूपित लक्षण और सिद्धान्त – डॉ. उषा सिहं पृ.सं. 2
4. संस्कृत सहित्य का इतिहास – वाचस्पति गैरोला – पृ.सं. 679
5. अक्षर अमर रहे – वाचस्पति गैरोला– पृ.सं. 139
6. अक्षर अमर रहे – वाचस्पति गैरोला– पृ.सं. 140–41
7. काव्यालंकार सूत्र – वामन – पृ.सं. 30–32
8. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – श्री कृष्णलाल – पृ.सं. 182
9. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – श्री कृष्णलाल – पृ.सं. 191
10. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास – श्री कृष्णलाल – पृ.सं. 188
11. आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास– श्री कृष्णलाल– पृ.सं. 200–202

अथिति प्रवक्ता (हिन्दी विभाग)
स्वामी रामतीर्थ परिसर, हे.न.व.ग.वि.विद्यालय

✦✦✦

Changing Indian Psychology on Language Learning with Special Reference to English and Sanskrit

–Dr. Nipun Chaudhary

Abstract-

People frequently talk about intolerance these days. It was a very famous dialogue of a movie where the heroine tells to a male character 'We will be happy if you treat us as a human being equivalent to your social status. We don't expect your treatment for us as a goddess'. The reference is worthy in the case of learning English in India too. It's a language and its learning should be taken without any pre conceived notion about colonial era. This research paper will try to explore the attitude of modern Indian language learner, English as a mode of 'global association', the condition of Sanskrit in India at present and the approach of both the languages towards changing modern scenario.

Paper-

The Chinese seriously contest the claim that English is spoken by the largest number of people of the world and assert that Mandarin, which is the main spoken language of china, has a linguistic following far exceeding the total number of people speaking English. It was revealed by the mid-1995 estimates that the Chinese language is spoken by 975 million individuals around the world. Nevertheless, the Chinese who think that china comprises the various gates of heaven and the land outside them are inhabited by savages; bathe themselves in the dapped sunshine glory which seems not to exist outside the heavenly gates.

Races, nationalities and countries speak English in both the hemispheres especially in those non-European countries where the British sun never set once upon a time. It can be seen that there are more speakers of English in India today than the whole population of Britain. In fact, the last surviving speaker of English in the world would be an Indian. The new generation which has taken patriotism for granted, looks forward to competing with advance countries of the East and the West. English is a

very prominent channel of communication in the fields of medicine, technology, architecture and business. They find that their own Indian language can only provide translated researches and it is not possible to keep pace with day-to-day advancements in the fields of research.

Today, in India, English is the link language among different semi-educated and educated linguistic groups. It is the language of opportunities. Most jobs require knowledge of English. In most of the interviews, a candidate is questioned in English as he might be required to work anywhere in our multilingual country or could even be posted in a foreign country. Apart from this, the languages listed in our Constitution are hardly in harmony with each other. The only recourse we can take is to learn and master the English language thereby ignoring the largest spoken Mandarin.

If we look at the other side of the coin, we find a clamouring knot of 'humanities', persons who wish to feel the fresh wind blowing from windows of the world and would sweep them off their feet. Some of them hear of existentialism of Sartre, the art of Picasso and the poetic technique of Shakespeare and John Milton. Without having regards for their background, history and the original milieu to which they belonged, they wish to emulate them. They know the doyens of English through a first rate imitation poetry or fiction which seeks to import the percolated umbrage of the works and art of foreign masters. The genius of Indian creative writing begins to be imitative. The roots that nurse wither away with time.

On the political front, however, English receives the most brutal attack. The Indian Constitution and the Parliament would have to be changed beyond recognition, if the key phrases and terms were to be deleted from the constitution; there are typically English terms such as 'Freedom'. Perhaps, it would be grossly unreal to carry on the exercise. Yes English is being mauled by accorded a menial status by our educationists.

Educationists agree that English is a useful instrument of communication, but it must not be allowed to dwarf the local languages, they argue. The British Government would not have issued a directive for making English the most important language of India and even if it did, no one would have listened to their orders. All the same, people feel that English is the most useful of all the languages so far as modern knowledge is concerned.

"The role played by Sanskrit in ancient India is being played by English in modern India", said the late C. Rajagopalachari. Perhaps, he was a little too far-fetched in this comparison. **Sanskrit sustained traditions of a great civilization of India while English does nothing to retain or**

maintain our ancient cultural heritage or our national pride. The rising numbers of students, teachers, businessmen, programmers, housewife and people from all walks of life are adopting English as their second language. They use it next only to their mother tongue. No one in India wants his language to get thwarted in its growth.

Who made English so popular, loved and cherished? The men of letters in English - Shakespeare, Johnson, Milton, Keas, Shelley, Yeats, Hardy, D.H. Lawrence, Bernard Shaw and T.S Eliot are still revered for their invaluable contributions in the field of English Literature. Dr. Rajendra Prasad was a great English scholar and orator. Even the British respected him. Further, Nirad C. Chaudhary, R.K. Narayan, Khushwant Singh, Vikram Seth and Shobha De are regarded as doyens of English prose.

India's languages need these catalytic contacts to keep pace with the times. However, that would require resources, creative conditions and high quality interactions of our native authors, poets and thinkers. We could create Shakespeare and Milton in India also. Our languages are also diverse, smooth and quite rich. As Gandhi said, they have to learn to practise the dharma of an artist to adopt that philosophy which sustains for values which are still vital and not to shut window on the world. This is possible when they do not imitate. English alone of all linguistic instruments gives us the right access to the wealth of complex knowledge of the modern world. No one would be able to profit by throwing away this instrument.

Some Hindi fanatics' attempt to drive out English altogether would be a suicidal blow to our development. English is a window on the world and our development is closely linked with our contacts with the outside world. International trade, conferences and reports of scientific and technological discoveries, communication, computers and diplomacy are mostly in English or are with the help of English interpreters. Most of the scientific research is reported or translated into English. The international hotel and tourism industries, airspeak (language of air terminals) and seaspeak (language of the ships) is in English. All computer languages and programmes are in English. Internet also speaks, writes and prints in English.

One of the reasons why English has such worldwide currency is its long history of usage in the great British Empire, which had spanned continents. It has assimilated and absorbed words to denote numerous local flavours. English words have been stretched or extended to connote many meanings which are different from the original ones. Thus, the language is rich and has further been honed by understatements and a wide variety for figures of speech to convey subtle shades of intention. Through numerous

puns, the language conveys strange, oddly disturbing and alluring meanings.

A pithy advertisement for biscuits says "Eat healthy, think better"! English has imbibed the capacity for retort and humour from its energetic race of native speakers. Even Gandhiji used it to full advantage. When told by Winston Churchill, the Prime Minister of England, "Gandhiji, anyone seeing you could say India is passing through a famine!" Pat came Gandhiji's answer, "They would know the reason for the famine if they saw you!"

In fact, it was the English language which enlightened our national leaders for their fights and put a force in them. Nehru, Gandhi and Aurobindo were educated in England. They were fluent enough to use English to voice their protest against British domination of India. The weapon the British gave them was used against the British!

However, the teaching of English language in India has not been universally successful. Many States in India have allowed Examination system to operate that are sans English particularly its grammar usage and subject. In many schools the teaching of English begins at class VI.

Poorly trained teachers impart poor language skills. Our English has generally been very bookish, chiche, pompous and had hyperbolic expression. In fact, it is incomprehensible to most of the foreigners. The government founded the Central Institute of English and Foreign Languages at Hyderabad to lay down standards for the teaching of English. For excellent training in the languages, teachers have been trained here. Indian English Literature has now a place of its own in the world. It has been given a new shape by Mulk Raj Anand, R. K. Narayan, Ruskin Bond, Nirad C. Chaudhary, Arundhati Roy and many more. Whatever a few chauvinists might say, English has come to stay in our country.

To conclude, we want to say that rather than associating a language with a religion, or a place, or taking it as an ideology against a culture and tradition, it should rather be taken as only a language. The purpose of learning a new language should only be learning something new. It should be acquiring language proficiency. It can also be knowing literary taste of that language. It can be developing aesthetic taste by learning through thought process of a writer who knows the culture and tradition which is unknown to us. It can be felt by anyone that language should not be a barrier in knowing something new. Thus, language learning should be done without having any pre conceived notions in our mind regarding the cultural background of that particular language. It is a myth that, on one day, Indians, in flow of learning English, will forget their mother tongue. English is a foreign language for us and will remain as a foreign language. Although it

is a matter of concern and brainstorming discussion that if Sanskrit was once the mother tongue of India, how come it happened that it has been replaced by Hindi, Tamil, Telugu etc., which shifted Sanskrit to the second in the platform? But it can be very well observed that the nature of human society is 'to change'. And sometimes changes are hard to accept!

References

1. Scrivener, Jim. *Learning Teaching*, Oxford : Macmillan Publishers Lim.2005, ISBN:1- 4050- 1399- 0
2. Thornbury, Scott. *How to Teach Speaking*, Essex : Pearson Education Limited 2005, ISBN:0-582-85359-1
3. Littlewood, William. *Communicative Language Teaching*, Cambridge : Cambridge University Press 1994, ISBN:0-521-28154-7
4. Celce-Murcia, Marianne. *Teaching English as a Second or Foreign Language*, Boston : Heinle&Heinle 2001, ISBN:0-8384-1992-5

(Faculty English, Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Shri Raghunath Kirti Campus, Devprayag, Uttarakhand)

✦✦✦

Comparison of Selected Psychological and Anthropometric Characteristics Between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

–Sandeep Singh Rawat

Abstract

The purpose of the study was to compare the selected psychological and anthropometric characteristics between successful and unsuccessful volleyball players.For the purpose of the study, female Volleyball players from 8 teams which participated in Senior National Volleyball Championship held at LNUPE, Gwalior from 28th December to 6th January, 2009-2010 were selected as the subject for the study. To measure the selected anthropometric variables (height, sitting height and leg length) anthropometric tape was used. Whereas, for assessing the Mental toughness Psychological Performance Inventory by James E.Loehr was used and Aggression was measured by Sports Aggression Inventory by P.S Shukla. The obtained data was analyzed by using statistical software (SPSS 20 version). To determine the comparison of selected psychological and anthropometric characteristics between successful and unsuccessful volleyball players, the independent t test was applied. The level of significance was set at 0.05.The results showed that there was a significant difference between successful and unsuccessful volleyball players in a) All of the selected anthropometric variables b) Aggression and c) Three subscales of Mental Toughness. Whereas, there was no significant difference in four subscales of Mental Toughness

Keywords: Mental toughness, Aggression, successful and unsuccessful volleyball players.

Introduction

Elite performance in sports does not merely depend upon systematic training of physical, physiological variables and technical aspects of sport but, it also demand training of psychological characteristics of the sportsman for success.[1]

Most top athletes and coaches believe that psychological factors play as crucial a role as physical attributes and learned skills in the make-up of champions. When physical skills are evenly matched – as they tend to be in competitive sport – the competitor with greater control over his or her mind will usually emerge as the victor. Mental strength is not going to compensate for lack of skill, but in close contest it can make the difference between winning and losing.

All sports are psychological as well as physical. They involve mental images, thought patterns, one's psyche and physical conditioning. It will however, allow one to draw the most from the conditioning one had. If one has trained more and better, his present capacity will be higher than the one who has trained less or less well. However, regardless of what is one's physical capacity might be at the moment; one has to look at his or her psyche in order to get the most from what he or she has. As the importance of winning continue to be stressed in competitive sports, the pressure and anxiety of performing well will also continue to increase. Thus, the problem with athlete getting ready for competition is often one of the calming them down not psyching them up.[2]

Anthropometry comprises techniques that readily contribute to a more in-depth understanding of body composition & nutritional status, allowing the quantification of observations & the observation of changes with time. Championship performances no longer occur at random or as a result of chance alone. International sports performance in various sports & games are influenced by many factors such as level of physical, physiological & psychological abilities.[3]

Volleyball requires tall players to play the game by hitting an inflated ball back & forth over a high net. It needs strong shoulders & wrists to withhold the pressure of the ball. Sodhi et al.,(1980) reported data of different levels of Volleyball players and found that with the increase in the standard of the game, the average stature of the players was greater. This means tall players have a natural advantage in performance.Although Khosla & McBroom, (1985) argued that populations who are relatively short in stature are disadvantaged in sports requiring height, they may still be successful at international level.For example, the Japanese women's volleyball team won the gold medal at the Montreal Olympics with a team ranging in height from 169-180cm.Other players of the same competition averaged about 178cm.

As a result of the disparity in the existing literature, this study examines the anthropometric and psychological characteristics of Volleyball

players and tries to compare the successful and unsuccessful Volleyball players.

Methodology

Selection of Subjects

For the purpose of the study, female Volleyball players from 8 teams which participated in Senior National Volleyball Championship held at LNUPE, Gwalior from 28th December to 6th January, 2009-2010 were selected as the subject for the study.

Instrument

1. Mental toughness was measured by Psychological Performance Inventory by James E.Loehr (1982).
2. Aggression was measured by Sports Aggression Inventory by P.S Shukla.
3. Height was measured by Anthropometric tape.
4. Sitting height was measured by Anthropometric tape.
5. Leg length was measured by Anthropometric tape.

Administration of the Test

Before administration of questionnaire and measurements, all the subjects were well oriented with the purpose of the study and to respond to questionnaire and cooperate in the collection of selected anthropometric measurements. The questionnaire and measurements was administered to each player after the completion of match (Senior National Matches). The directions were read by the researcher at a dictation speed to make the subjects understand the procedure to fill up the questionnaire. The subject was asked to record the answers for all questions. The subjects were given enough time to answer the questionnaire. The questionnaire was taken back after it was duly completed. Thorough screening was done to ensure that no question was left unanswered. The anthropometric measurements were obtained in the girl's hostel between 8:00 am to 10:00 am by following the exact procedure listed above.

Results

In order to analyze the data, t-test was used to compare the means of successful and unsuccessful Volleyball Players. The level of significance was set at 0.05.

Table-1
Comparison of Aggression between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Aggression	Successful	11.08	2.79	2.56*
	Unsuccessful	12.77	3.64	

*significant at 0.05 level

Table 1 indicates that there is a significant difference in relation to aggression between successful and unsuccessful volleyball players, as the calculated t value was(2.56) which was higher than the tabulated t-value (1.98) with (94) degree of freedom and .05 level of significance. It can also be learnt that mean of aggression in unsuccessful volleyball players was higher than that of successful volleyball players.

Table-2
Comparison of Self Confidence (Mental Toughness) between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Self Confidence	Successful	22.18	3.65	0.597
	Unsuccessful	21.62	5.40	

Table 2 shows that there was no significant difference in relation to self-confidence between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (0.597) which was lower than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level of significance.

Table-3
Comparison of Negative Energy Control (Mental Toughness) between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Negative Energy Control	Successful	19.56	2.74	1.19
	Unsuccessful	20.52	4.41	

Table 3 reveals that there was no significant difference in relation to negative energy control between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (1.19) which was lower than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at0.05 level of significance.

Table-4
Comparison of Attention Control (Mental Toughness) between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Attention Control	Successful	19.60	3.18	1.63
	Unsuccessful	20.33	4.33	

Table 4 shows that there was no significant difference in relation to attention control between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (1.63) which was less than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level of significance.

Table-5

Comparison of Visual/Imagery Control (Mental Toughness) between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Visual/Imagery Control	Successful	23.22	3.37	3.815*
	Unsuccessful	20.00	4.79	

*significant at 0.05 level, t. 05 (94) =1.98

Table 5 shows that there was a significant difference in relation to Visual/Imagery control between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (3.815) which was more than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level of significance.

Table-6
Comparison of Motivation Level (Mental Toughness) between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Motivation Level	Successful	24.02	3.32	3.856*
	Unsuccessful	20.89	4.52	

*significant at 0.05 level, t. 05 (94) =1.98

Table 6 shows that there was a significant difference in relation to Motivation Level between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (3.856) which was more than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level ofsignificance.

Table-7
Comparison of Positive Energy Control (Mental Toughness) between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Positive Energy Control	Successful	23.93	3.73	1.445
	Unsuccessful	22.68	4.69	

Table 7 shows that there was no significant difference in relation to Positive Energy Control between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (1.445) which was less than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level of significance.

Table-8
Comparison of Attitude Control (Mental Toughness) between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Attitude Control	Successful	24.95	3.42	5.327*
	Unsuccessful	20.45	4.74	

*significant at 0.05 level, t. 05 (94) =1.98

Table 8 shows that there was a significant difference in relation to Attitude Control between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (5.327) which was more than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level of significance.

Table-9
Comparison of Height between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Height	Successful	172.98	6.02	7.094*
	Unsuccessful	163.36	7.22	

*significant at 0.05 level, t. 05 (94) =1.98

Table 9 shows that there was a significant difference in relation to Motivation Level between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (7.094) which was more than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level of significance.

Table-10
Comparison of Leg Length between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Leg Length	Successful	102.35	5.80	8.21*
	Unsuccessful	94.20	3.69	

*significant at 0.05 level, t. 05 (94) =1.98

Table 10 shows that there was a significant difference in relation to Leg Length between successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (8.21) which was more than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at0.05 level of significance.

Table-11
Comparison of Sitting Height between Successful and Unsuccessful Volleyball Players

Variable	Group	Mean	S.D	t value
Sitting Height	Successful	86.82	3.22	2.75*
	Unsuccessful	85.00	3.27	

*significant at 0.05 level,t.05 (94) =1.98

Table 11 shows that there was a significant difference in relation to Sitting Heightbetween successful and unsuccessful volleyball players as the calculated t value was (2.75) which was more than the tabulated t value (1.98) with (94) degree of freedom at 0.05 level ofsignificance.

Discussion of Finding

The results of the study indicate that there is a significant difference between successful and unsuccessful senior women national volleyball players in relation to Aggression. The unsuccessful volleyball players have higher mean in aggression than successful volleyball player which indicate that unsuccessful player are more aggressive than successful volleyball player. This may be due to the fact that aggression alone may play a negative role in exhibiting better performance and unduly aggressive player is likely to exhibit such a behaviour which may affect his performance. In volleyball, an intelligent player is needed who plays the ball according to situation that is where there is space rather than hitting the ball with the maximum possible force.

The following subscales of mental toughness shows a significant difference in successful and unsuccessful volleyball player in visual/imagery control, motivational level and attitude control.A successful player must be able to visualize mentally the entire sequence of movement of the game, so that this may help a player do the movements in a perfect manner.Roure et al. have reported that imagery training is beneficial to player in exhibiting top class player. Whereas, motivation plays an important role in exhibiting better performance because it not only releases energy for executing skills in a befitting manner but it helps in performing extra feats ordinary thereby demoralizing opponents.It has been opined that positive attitude is one of the quality for any successful individual, especially, sportsperson. The literature is full of studies which indicate that a player with positive attitude not only works hard during training phase also plays very well during the

game situation

The findings of the study also indicate that there is no significant difference between self-confidence, negative energy control, attention control and positive energy control between successful and unsuccessful volleyball player.It may be because it has been seen that average scores in self-confidence, negative energy control, attention control and positive energy control are likely to help the player to perform better in a game of volleyball. Extreme score on the above mention subscale are likely to adversely affect the performance.

It has been found that national level successful volleyball player have significantly greater height, leg length and sitting height than unsuccessful volleyball player. The above findings may be due to the fact that volleyball players ought to have a greater height in order to perform skills such as spiking, blocking etc. effectively and efficiently. These findings are in agreement with the opinion expressed by Sheppard JM et.al.Whereas, leg length plays a significant role in helping a player not only to have a greater reach but also to jump higher for executing various skills as the enhanced leverage due to longer legs is likely to generate more force for jumping higher andit is generally seen that greater sitting height will lead to greater length of the arms and is likely to help a player in not only executing skill efficiently but the skills may be executed with a greater force. Further the longer limbs are likely to help the player in covering the court besides the enhancement of reach for execution of skills. The findings of the study are supported by the findings of Stamm et al.

References

Adam R. Nicholls, "Mental toughness in sport: Achievement level, gender, age, experience, and sport type differences", Personality and Individual Differences, 2009, Vol. 47, pp.65-78.

Fourie S, Potgieter J R "The Nature of Mental Toughness in Sports", South African Journal for Research in Sports, Physical Education and Recreation, 2001, Vol.3, pp.42-52.

Golby J, Sheard M &Lavalle D "A Cognitive Behavioural Analysis of Mental Toughness in National Rugby League Football Team"Percept of Motor Skills, 2003, Vol. 54, pp.93-110.

Gabbett, Timand Georgieff, Boris, "Physiological and Anthropometric Characteristics of Australian Junior National, State, and Novice Volleyball Players",The Journal of Strength and Conditioning Research, 2007, Vol. 21, pp.121-130.

Cratty Bryant J., "Psychology and Physical Activities", New Jersey: Englewood Cliffs, Prentice Hall, 1968.

Roberts, Glyn C. and Spink, Kevins, "Text Book of Learning Experience in Sports Psychology", Champion, Illinois: Human Kinetic Publishers Inc, 1986.

Khosla, T. & McBroom, V.C., "Age, Height & Weight of Female Olympic Finalists", British Journal of Sports Medicine, 1985, Vol. 19, pp. 96-99.

Footnote

1. Cratty Bryant J, "Psychology and Physical Activities", New Jersey: Englewood Cliffs, Prentice Hall, 1968.
2. Silva, John M. and Weinberg, Robert S., "Psychological Foundation of Sports", Champaign, IL: Human Kinetic Publishers, 1984.
3. Tim Gabbett and Boris Georgieff "Physiological and Anthropometric Characteristics of Australian Junior National, State, and Novice Volleyball Players",The Journal of Strength and Conditioning Research, Vol.-21, 2007.

(Physical Education, Rashtriya Sanskrit Sansthan, Shri Raghunath Kirti Campus, Devprayag, Pauri Garhwal, Uttarakhand)

✦✦✦

Importance of Bharat Muni's Rasa Theory in the study of English Literature

- Dr. Tanu R. Bali

ABSTRACT

Major purpose of literature is to entertain its readers or spectators. English literature is very vast and varied. It provides us with different forms of writings like poetry, novel, drama, myth, short story, comedy, satire, tragedy etc. and all its genres are affected by the Rasa under Rasa Theory Bharat Muni. A proper analysis of the theory can be a source of pleasure and satisfaction out of our reading of English Literature. In English, Rasa is known as Aesthetics which itself teaches a lot but the actual "rasa" can be achieved when we go through the theory by Bharat Muni. The concept of Aesthetics deals with the sense of beauty and taste. It shapes our aesthetic judgment, understanding, emotion and attitude. Rasa Theory teaches us more into this sphere. According to Bharat Muni "no meaningful idea is conveyed if the 'Rasa' is not evoked." Under the influence of Rasa the reader or the spectator becomes the 'Rasika'. If he is able to find out rasa through it, then he can have sort of psychological and mental relief out of his readings.

Importance of Bharat Muni's Rasa Theory in the study of English Literature

Concepts relating to Rasa apply equally to all forms of art and literature, but have been particularly refined with regard to poetry and drama. According to ancient tradition the world over, drama was accepted as the most complete art form, bringing together the other different forms like music, dance and poetry. Bharat Muni, in his treatise on the Natya Shastra formulated the theory of rasa , in the 4th century A.D. Natya Shastra, which is considered the Fifth Veda, envisioned the gods as the audience of theatre. An article in The Week, (Oct. 11th 2009), explains that "as per the rasa theory, all genuine aesthetic experience is essentially transcendental in nature, stemming from the one and only source of ananda, the divine. For the artiste, it lies in the act of creation and for the spectator it is inherent in

the act of observance. And depending on the extent to which a work is imbued with this divine expression, it is deemed to be rich or poor in its degree of aesthetic fulfillment" (2009:46). Academician and curator, Dr. Alka Pande describes Rasa as sap or juice of a plant, which means flavour and taste. It also means feeling. According to her "It also signifies the non-material essence of something or 68 the best or finest part of it , like perfume, which comes from matter but is not so easy to describe or comprehend. And when Rasa is applied to art and aesthetic experiences, the word signifies a heightened delight or ananda, the kind of bliss that can be experienced only by the spirit" (2002:2). Central concepts of the rasa theory used in this chapter are mainly derived from Priyadarshi Pathak s Rasa in Aesthetics (1997). Pathak explains how Bharata classifies dramatic content on the basis of emotions. He says that all the rasas coming under one group must have something in common. The point of commonality is that they all have some emotional content. But they must also have their points of difference to keep their identity. These differences are the ways in which the various emotions are manifested.

Philosophical study of beauty and taste is called Aestheti. It is basically the sensory judgment of what we read, watch or experience. Semantically, in modern English it means something that can appeal to the senses. Different cultures and traditions have a different concept of aesthetics. Aesthetics is apparent in various genres: poetry, music, drama, design, painting, architecture and among others. The various treaties of aesthetics have been discussed to show how pleasure is evoked. Its appreciation and expression is determined through the psychological and cultural aspects. Rasa Theory is given by Bharat Muni in Natyashatra. According to it, there are eight Rasa that impacts an aesthetic piece of work. It is not that one need to have deep insight to the whole of Rasa Theory rather the understanding of the eight rasas only can perform miracles in their way of interpreting a piece of art. "Rasa" is a technical terminology of Sanskrit Poetics. Bharata, the father of Indian poetics and writer of "Natyashastra" raises a question about Rasa that what is rasa and he himself solves this question by saying that "rasa" is a thing of relishing or enjoyment of something. Thus Rasa means in poetical perspective is a poetical enjoyment. In other words, it is an aesthetic experience of a piece of art. He also explains that mental permanent moods such as love, anger, laugh (sthayibhava) are basis of this poetical taste or enjoyment. These sthayibhavas are the principle conditions for the poetic enjoyment. Bharat develops a formula for expressing rasa in his "Natyashastra" for the first time. He lays down his formula as: "vibhavanubhava -vyabhichari-

samyogadrasanishpattih." These vibhava etc. is cause, effect and auxiliary moods to give impetus to rasa.

English Literature constitutes of countless number of writings which are based on varied themes and subjects. All can be a different source of entertainment for different individuals. To start with the relevance of Rasas in English literature one needs to know about how many rasas are there and what does each rasa means. There are 8 rasas according to Bharata Muni. These are:

1. Bhayanak Rasa: It deals with the emotion of fear.
2. Hasya Rasa: It explains the emotion of joy/laughter.
3. Raudra Rasa: It arouses the emotion of anger.
4. Adbhuta Rasa: Emotion of wonder is expressed.
5. Bibhitsa Rasa: Feeling of disgust is talked about.
6. Shringar rasa: It explains the emotion of erotic/love.
7. Veera rasa : It highlights the emotion of heroism.
8. Karuna rasa: It explores the emotion of sadness.

All these rasas can be found in different forms of English Literature. One can derive the immense state of pleasure out of these rasas while enjoying a text or any piece of art. This can be well illustrated through the different works of literature by eminent writers relating them to one of the rasas individually.

Fear is when some elements arouse a kind of terribleness. One feels horrified or is laid towards something good or wrong. Macbeth by William Shakespeare arouses a sense and emotion of fear while we read it. It is the major motivating factor in the actions of its character. Macbeth was fearful of being caught due to his wrong deeds in the case of the murder of the King Duncan. His actions were also partially the resultant of the fear created by the fearful prophecy of the witches. The troublesome sleep of Lady Macbeth is again a sign of fearfulness. She loses sanity as she is consumed byfear and guilt.

A sense of comedy, farce that makes us laugh and feel happy is what is created by this rasa. William Shakespeare's 'A Midsummer Night' s Dream' creates comedy. The words, action and the plot are to some extend humorous. It is created when reader is more aware about the situation of a character than the character does. It occurs on how the readers perceive the circumstances of four lovers. Both Lysander and Demetrius leave off being in love with Hermia and fall in love with Helena, and they do not know the

reasons for this but contrary to it the viewers are aware of it. The characters confusion and mess creates comedy in the play. They indulge in arguments which are silly and for fun of the reader.

When we feel a sort of anguish or we try to have revenge, anger is evoked. Chimney Sweeper by William Blake evokes the anger towards society. The parents sell their kids to sweep the soot. The choking soot is dangerous for the young kids. The unsatisfactory minds of children and the wrong judgment of society with them is the main source of anger in the poem.

The gestures of surprise or wonder are created when something unexpected happen. Samuel Beckett's Waiting for Godot keeps us wondering what next is going to happen. Even at the end of the play we still wonder. Vladimir and Estragon keep on waiting for Godot in the play in spite of the fact that they do not even know who Godot is.

T o have a feeling of unlikeness, when you do not like to achieve something as it is actually or as it is exhibited you suffer from the emotion of disgust. The poem The Flea by John Donne exhibits some elements of disgust. The flea is taken to join the two bloods together. The body of the flea is taken to as the marriage bed. The idea of having sex and then comparing it with the instances of the flea is really disgusting. The harm that can be caused to a lady is compared to that of the killing of an insect.

Love is to be passionate and in deeply attached with something or someone, it tells one to completely devote his self to someone. William Blake's sonnet "She walks in beauty" presents the theme of love. The speaker compares her beloved to lots of beautiful things like star , the dark sky shining etc. The beauty is described in so much affectionate way that one can easily come to know how much does the speaker loves his beloved. He says that her face is "sweet" and "pure". She is not just presented as beautiful but is also said to be "good" and "innocent".

When someone is presented to be your role model or a kind of personality whom you can follow, he is taken to be the hero of the task. His courage, bravery, boldness is all that is talked about. He has a sense of proud or the reader feels a sense of proud on that figure. P.B Shelley in Ozymandias , describes about the boastful attitude of the king. The lines " Ozymandias, King of King; if anyone wishes to know what I am and where I lie, let him surpass me in some of my exploits," they present his heroic qualifications.

Sadness can be created by any unwanted activity of life. You may want something in life but due to inability to achieve something you can be

sad. Even the bad happening in life can turn you upset. It is basically getting your mood spoilt when something goes opposite to your desires. A monologue by Robert Browning i.e. "The Last Ride Together "expresses the dejected condition of a rejected lover. He wants to have a last sign of love with his beloved in the source of last ride.

These rasas are related to our life. We somehow relate our happenings of life with these rasas. We can even have a sense of commonness with the characters when we assume the reading based on these rasas. A kind of sympathy could be created with those characters or the sufferer around us for the same cause. We can even find out rest when we observe that what all is happening with us is actually the part of life and has happened and is happening with people around us.

In conclusive words rasa is that internal enjoyment which is relished after the generalization of a person who generalizes himself with all the situation and feelings of an actor. These all may be in some readable or seeableacting of some actor. Not only this, this rasa generalization makes a poetic enjoyer enjoying the same type of enjoyment which was enjoyed by real actor at the time of his or her original acting. This rasa takes a poetic relish to the same situation, impetus and world where the timeless state of mind appears only those feelings are enjoyed by the aesthetic enjoyer for the first time. At last we can say that this aesthetic experience takes a person to the absolutely indivisible state of mind which is similar state of mind of the great creator of this world and ultimately he enjoys the indescribable wonder of this world and wants again and again to achieve this type of state of mind.

References

Pande. Alka, 2002

Pande, Anupa: A Historical and Cultural Study of the Natyasastra of Bharat, Kusumanjali Prakashan, Jodhpur, 1996, p.313.

Pathak, Priyadarshi :Rasa in Aesthetics (1997).

Natyashastra , Bharatamuni: Ch VI sl 32.

Assistant Professor, Dept. of English
Govt. Degree College, Pawki Devi (T.G)

✦✦✦

Linguistic Study of Sanskrit and English

- Dr. Ashok Joshi

संस्कृत भाषा अमृतवाणी नैवच कठिनः नच सरलः।
सुरस सुबोधा विश्व मनोज्ञा ललितः हृदय रमणीया॥

Sanskrit is an ancient and classical language of India. Rigveda was the first book in Sanskrit . It is believed that Vedas are dated by from 6500 B.C. to 1500 B.C. During this period a vast literature- vedas, Barhmana - Granthas, Aranyankas, Upnishad and vedangas had come to existence. Panini (500B.C.) was a great landmark in the development of Sanskrit language and literature, Sanskrit literature is as vast as the human life, Panini concising about ten grammar school prevalent during his time, wrote the master book of grammar named Ashtadhyayi which served as beacon for the later period. Literary Sanskrit and spoken Sanskrit both followed panini's system of language. *According to paninian Grammar and investigations of M.R. Kale, Sanskrit has 35 pronouns.*[1] Today the correctness of Sanskrit language is tested upon the touchstone of panini's Ashtadhyayee. Sanskrit is said to Indo — Aryan or Indo — Germanic family of languages which includes Greek, Latin, English and other alike languages. William Jones who was already familiar with English and other European languages, when came in contact with Sanskrit, remarked that *"Sanskrit is more perfect than English and other languages"*[2] There is more connection between Sanskrit and English. Many English words actually have Sanskrit origins. Similarly, many vedic religious concepts can also be found in western culture. Some Sanskrit words are difficult to be spelt in English as the Sanskrit has 42 letters and English has only 26. The differences in the pronunciation of "c", "kicking ka" "curly ka" "J" and "G" in English may be an issue. We can see in mainstream some English words derived from Sanskrit, are as follows.

Root Sanskrit Word	Derived English word
Sri	Sir
Gav	Cow
Matr	Mother
Sarpa	Serpent

Naas	Nose
Danta	Dental

Sanskrit has been studied by westerners, since the late 18th century. In the 19th century, the study of Sanskrit played a crucial role in the development of the field of comparative linguistics of the Indo — European languages. During the British Raj (1857-1947), Britishers edited many Sanskrit text which had survived in manuscript from. *The Sanskrit is based on nominal stems, verbal stems and affixes.*[3] The study of Sanskrit grammar, literature and philosophy remains important both in the field of Ideology and of Indo — European studies, and for the comparative study of both languages. *Rick Briggs uses Semantic nets (knowledge representation scheme) to analyze sentences unambiguously.*[4]

Comparison between Sanskrit and English

Basis	**Sanskrit**	**English**
Alphabet	42 character	26 character
No. of vowel	Nine vowels	Five vowels
No. of consonant	Thirty three	Twenty one
number	Three: singular, dual and plural	Two: singular and plural
Sentence order	SVONP (subject + verb+ object+ number+ person)	SVO (subject+ verb+Object)
Tenses	Three (present, past and future)	Three (present, past, future)

Thus English is well known language so we illustrate Sanskrit grammar and its salient features. *'DESIKA' is the analysis program based on Paninian grammar, DESIKA includes vedic processing as well.*[5] The English sentence always has an order of subject + verb + object, while Sanskrit sentence has a free word order. A free order language is a natural language which does not lead to any absurdity or ambiguity, thereby maintaining a grammatical and semantic meaning for every sentence obtained by the change in the ordering of the words in the original sentence.

श्रुतिरससारा स्मृतिपरिवारा पौराणिकतत्त्वनिरूपिणी।
सरला सरसा संस्कृतभाषा।[6]

References

1. M.R. Kale "A Higher Sanskrit Grammar", 4th Ed., Motilal Banarsidas Publishers Pvt. Ltd. 2005.
2. W. Jones, "Non-hybrid example-based machine translation architectures", In TML, pp. 163-171, 1992.
3. P. Ramanujan, "Computer processing of Sanskrit", computer processing of Asian Languages CALP-2, IIT Kanpur, 1992.
4. Rick. Briggs, "Knowledge Representation in Sanskrit and Artificial Intelligence", The Al Magazine, pp33-39, 1985.
5. P. Ramanujan, "Computer processing of Sanskrit", computer processing of Asian Languages CALP-2, IIT Kanpur, 1992.
6. Dr. N.P. Mishra "Geetballari" 1st Ed. Maa Ganga Computers Kankhal Haridwar p.16 Geet no.30.

Guest Faculty, Dept. of English
Garhwal University, SRT campus
Badshahi Thaul, Tehri Garhwal (Uttarakhand)

✦✦✦